श्रीमुनिराजकुंथुसागररचित.

निजात्मशुद्धिभावना

व

मोक्षमार्गप्रदीप.

-: अनुवादक व प्रकाशक :-

श्री पं. नानूलालजी शास्त्री, जयपुर.

=: मुद्रक :=

वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री.

श्री कल्याण पॉवर प्रिंटिंग प्रेस, सोलापूर.

प्रति २०००	वीर संवत् २४६४ सन् १९३८.	मूल्य स्वाध्याय

श्री

समर्पण

श्रीमदाचार्यवर्य पूज्यपाद गुरुवर्य
श्री १०८ शांतिसागरजी महाराज के
पुनीत करकमलोंमें

भगवन् !

आपके ही पावन प्रसादसे मेरा जीवन पावन हुआ एवं मैं संयमको धारणकर मैं अल्पविद्याको प्राप्त कर-सका, आपके ही आशिर्वाद बलसे मैं आज स्व-परकल्याणकारी वीतराग मार्गमें लगा हूं,
इसलिये आपके द्वारा उपदिष्ट आध्या-
त्मिक विचारसे ग्रथित प्रकृत-ग्रंथको
आपके ही भक्तिके चिन्हस्वरूपमें
आपके श्री पुनीत
करकमलोंमें
समर्पित करता हूं,
आपके चरणोंकी भक्ति मेरे
हृदयमें सदा बनी रहे यह भावना है।

विनीत
निर्ग्रंथ श्रीकुंथुसागर

वीतराग तपोमूर्ति दिगम्बर जैनाचार्य
श्री १०८ आचार्य-शिरोमणि शांतिसागरजी महाराज

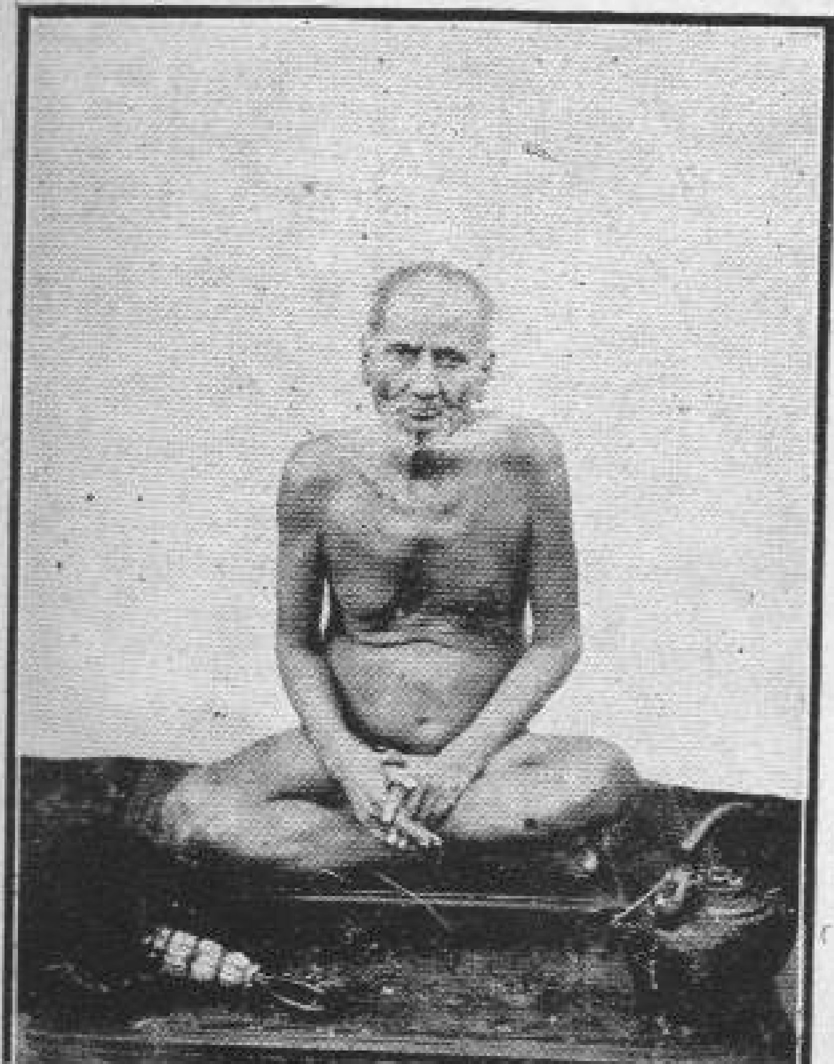

संसारसिन्धुपरिलङ्घनमुख्यवीरं स्वानन्दसिन्धुपयसि प्रविलीनमेनम् ।
स्वर्मोक्षमार्गनिरतं मुनिवृन्दवन्द्यं भीमे कलावपि नृपोरगवृन्दपूज्यं ॥
दुःखे सुखेऽप्यनुपमं स्वरसं पिबन्तं स्वाचारसाररसिकं परमं पवित्रं ।
आचार्य**शांतिजलधिं** नमतीति भक्त्या **श्रीकुंथुसागर**मुनिस्तव मुख्यदासः ॥

आद्य वक्तव्य.

आत्मज्ञानात्परं कार्यं न बुद्धौ धारयेच्चिरम् ।
कुर्यादर्थवशात्किंचिद्वाक्कायाभ्यामतत्परः ॥

पूज्यपाद–

बहिरंगमें अपने प्रयोजनसे अनेक प्रकारके कार्योंको वचन व कायसे अतत्पर होकर करने पर भी प्रतिसमय मनमें आत्मज्ञानकी भावना करनी चाहिये जिससे आत्मबल बढता है ।

यह आधिभौतिक युग है, आध्यात्मिकयुग नहीं । वर्तमानमें भौतिकउन्नति के लिये सर्वत्र साधन सामग्रियोंको जुटाते हैं । उसके लिये सर्वत्र अनुकूलता मिलती है । भौतिक उन्नतिके शिखरपर पहुंचने मात्रसे ही इस युगमें मनुष्य अपनेको कृतकृत्य समझने लगता है । भौतिकभोगके पीछे मनुष्य सर्वस्व खोनेको तैयार होता है । यहांतक कि वह आध्यात्मिकयोगको बिलकुल भूल जाता है, उसे सर्वसर्वा पुद्गलोंमें ही सुखका अंश प्रतीत होने लगता है, वह लौकिक भोगविलासोंमें ही रातदिन अपना समय व्यतीत करनेमें अपना धर्म समझता है । इसका फल यह होता है कि धर्मसे उसकी उपेक्षा होती है, सुसंस्कारोंका पालन ढकोसला समझा जाता है, चारित्रका आचरण व्यर्थ मानने लगता है, फिर आध्यात्मिक योग तो बहुत दूर । इसलिये इस विलासिताके राज्यमें सर्वत्र स्वेच्छाचार ही फैलकर सबका व्यवहार

अपने स्वार्थसाधनोंकी पूर्तिके लिये बनजाता है । जिससे सर्वत्र अशांतिका वातावरण पैदा होता है, किसीको सुख नहीं मिलता है, आज भारतवर्ष अन्य देशोंके समान आधिभौतिक उन्नतिके अनुकरण करनेका प्रयत्न कर रहा है, इसीलिये उसकी छिन्नभिन्न दशा है।

पूर्वाचार्योंनें यह बहुत दूरदर्शिता व स्वानुभवपूर्वक निश्चय किया है कि आत्मबलको बढानेसे सर्व सुखकी सिद्धि होती है। आध्यात्मिक बलसे यह मनुष्य लोकविजयी हो सकता है। अन्यथा नहीं। इस पंचमकालमें जब कि सर्वत्र भौतिकवादका बोलबाला है जब कि प्राणियोंका मार्ग अंधकारमय बनगया है ऐसे समय में आध्यात्मिक विषयोंके उपदेश देकर प्राणियों को मार्ग बतलानेवाले वीतरागी निस्पृह साधुवोंकी आवश्यकता थी। इसकी पूर्ति प्रातः स्मरणीय आचार्य श्री शांतिसागरके अवतार से हुई। आपने अपने दिव्य तेज द्वारा भारत वर्षमें फिर उस आध्यात्मिक ज्योतिको फेंककर जो लोग अंधकार में थे, उनके चित्तमें अंशतः क्यों नहीं प्रकाश उत्पन्न किया, मार्गभ्रष्ट लोग फिरसे मार्गमें आने लगे, संस्कारविहीन संस्कृत होने लगे, नास्तिक लोग आस्तिक बनने लगे, इस प्रकार आज आपके प्रभावसे आसेतु हिमाचल धर्म-प्रवाह का संचार होरहा है।

आजके युगमें आचार्य महाराज अलौकिक महापुरुष है। जगद्वंद्य है। संसारके दुःखोंसे भयभीत प्राणियोंको तारने के लिये

अकारणबंधु है। आचार्य महाराजके दिव्यविहार से ही आज प्राचीन संस्कृति यत्रतत्र दृष्टि गोचर हो रही है। आपके हृदयकी गंभीरता, अचलधीरता व शांतिप्रियताको देखते हुए सचमुचमें आपके नामका सार्थक्य समझमें आता है। जिन्होंने भक्तिपूर्वक आपका एक दफे दर्शन किया हो उनको आपकी महत्ताका परिज्ञान हुए विना नहीं रह सकता है। एकदफे आपके सामने कोई क्रूरहृदयी शत्रु भी क्यों न आवे; आपकी शांतमुद्राको देखकर वह द्रवित हो जाता है। इतना ही क्यों बडेसे बडे क्रूर मृग, विषधर सर्प आदि भी शांत हो जाते हैं। आपका माहात्म्य इसी से स्पष्ट है कि कई दफे प्राणकंटक उपसर्ग आनेपर भी उन से महाराज की सिंहवृत्तिमें कोई विराधना नहीं हो सकी। ऐसे प्रातःस्मरणीय साधुओंके दर्शन, स्तवन व वैयावृत्यके लिये ही नहीं नामोच्चरण करनेके लिये भी पूर्वोपार्जित पुण्यकी आवश्यकता है। यह सर्व साधारण के लिये सुगम नहीं है।

आचार्यश्रीके द्वारा अनेक संयमी साधु दीक्षित हुए हैं। **मुनिराज कुंथुसागरजी** महाराज उनमें से अन्यतम विद्वान् व प्रतिभाशाली संयमी हैं। आपने इससे पूर्व श्री चतुर्विंशतिस्तुति, श्रीशांतिसागर चरित्र, व बोधामृतसार आदि महत्वपूर्ण ग्रंथोंकी रचना की है। यह प्रकृत दोनों ग्रंथ भी आपके द्वारा रचित हैं, ग्रंथके अध्ययनसे आपकी विद्वत्ता, संयमकी निर्मलता झलकती है।

ग्रन्थकर्ताका परिचय।

महर्षि कुंथुसागरजीने इस ग्रंथकी रचना की है। आप एक परम वीतरागी, प्रतिभाशाली, विद्वान् मुनिराज हैं।

आपकी जन्मभूमि कर्नाटक प्रांत है जिसे पूर्वमें कितने ही महर्षियोंने अलंकृत कर जैनधर्मका मुख उज्वल किया था।

कर्नाटक प्रांतके ऐश्वर्यभूत बेळगांव जिल्हेमें ऐनापुर नामक सुंदर ग्राम है। वहांपर चतुर्थ कुलमें ललामभूत अत्यंत शांतस्वभाव वाले सातप्पा नामक श्रावकोत्तम रहते हैं। आपकी धर्मपत्नी साक्षात् सरस्वती के समान सद्गुणसंपन्न थीं। इसलिये सरस्वतीके नामसे ही प्रसिद्ध थीं। सातप्पा व सरस्वती दोनों अत्यंत प्रेम व उत्साहसे देवपूजा, गुरूपास्ति आदि सत्कार्यमें सदा मग्न रहते थे। धर्मकार्य को वे प्रधान कार्य समझते थे। उनके हृदय में आंतरिक धार्मिक श्रद्धा थी। श्रीमती सौ. सरस्वतीने संवत् २४२० में एक पुत्र रत्नको जन्म दिया। इस पुत्रका जन्म शुक्लपक्षकी द्वितीयाको हुआ, इसलिये शुक्ल पक्षके चंद्रमाके समान दिनपर दिन अनेक कलावोंसे वृद्धिंगत होने लगा है। मातापितावोंने पुत्रका जीवन सुसंस्कृत हो इस सुविचारसे जन्मसे ही आगमोक्त संस्कारोंसे संस्कृत किया जातकर्म संस्कार होनेके बाद शुभमुहूर्तमें नामकरण संस्कार किया गया जिसमें इस पुत्र का नाम रामचंद्र रखा गया। बादमें चौल कर्म, अक्षराभ्यास, पुस्तकग्रहण आदि संस्कारोंसे संस्कृत कर सद्विद्याका अध्ययन कराया। रामचंद्रके हृदय में बाल्यकालसे ही

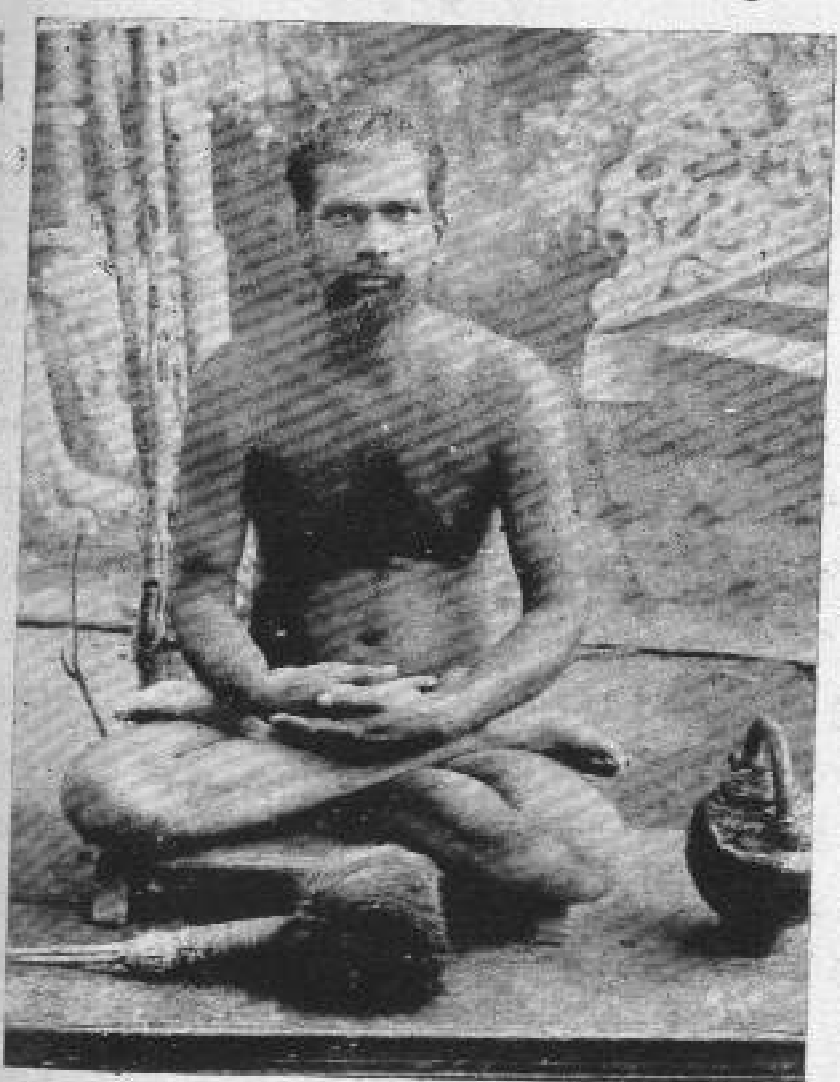

तपोधन श्री १०८ मुनिराज कुंथुसागरजी महाराज

[ग्रन्थकर्ता]

(Kalyan Power Press, Sholapur.)

विनय, शील व सदाचार आदि भाव जागृत हुए थे। जिसे देखकर लोग आश्चर्य व संतुष्ट होते थे। रामचंद्रको बाल्यावस्थामें ही साधु संयमियोंके दर्शनमें उत्कट इच्छा रहती थी। कोई साधु ऐनापुरमें आते तो यह बालक दौडकर उनकी वंदनाके लिये पहुंचता था। बाल्यकालसे ही इसके हृदयमें धर्मकी अभिरुचि थी। सदा अपने सहधर्मियोंके साथमें तत्वचर्चा करनेमें ही समय इसका बीतताथा। इस प्रकार सोलह वर्ष व्यतीत हुए। अब मातापितावोंने रामचंद्रको विवाह करनेका विचार प्रकट किया। नैसर्गिक गुणसे प्रेरित होकर रामचंद्रने विवाहके लिये निषेध किया एवं प्रार्थना की कि पिताजी! इस लौकिकविवाहसे मुझे संतोष नहीं होगा। मैं अलौकिक विवाह अर्थात् मुक्तिलक्ष्मीके साथ विवाह करलेना चाहता हूं। मातापितावोंने आग्रह किया कि पुत्र! तुम्हे लौकिक विवाह भी करके हम लोगोंकी आखोंको तृप्त करना चाहिये। मातापितावोंकी आज्ञोल्लंघनभयसे इच्छा न होते हुए भी रामचंद्रने विवाहकी स्वीकृति दी। मातापितावोंने विवाह किया। रामचंद्रको अनुभव होता था कि मैं विवाह कर बडे बंधन में पड गया हूं।

विशेष विषय यह है कि बाल्यकालसे संस्कारोंसे सुदृढ होनेके कारण यौवनावस्थामें भी रामचंद्रको कोई व्यसन नहीं था। व्यसन था तो केवल धर्मचर्चा, सत्संगति व शास्त्रस्वाध्याय का था। बाकी व्यसन तो उससे घबराकर दूर भागते थे। इस प्रकार पचीस वर्ष पर्यंत रामचंद्रने किसी तरह घरमें वास किया, परंतु

बीच २ में मनमें यह भावना जागृत होती थी कि भगवन् ! मैं इस गृहबंधनसे कब छूटूं, जिनदीक्षा लेनेका भाग्य कब मिलेगा ? वह दिन कब मिलेगा। जब कि सर्वसंगपरित्याग कर मैं स्वपर-कल्याण कर सकूं।

रामचंद्रके श्वसुर भी धनिक थे। उनके पास बहुत संपत्ति थी। परंतु उनको कोई संतान नही। वे रामचंद्रसे कई दफे कहते थे कि यह संपत्ति घर वगैरे तुम ही लेलो। मेरे यहांके सब कारोभार तुम ही चलावो। परंतु रामचंद्र उन्हें दुःख न हो इस विचारसे कुछ दिन रहा भी। परंतु मन मनमें यह विचार किया करता था मैं अपना भी घरदार छोडना चाहता हूं। इनकी संपत्ति को लेकर मैं क्या करूं। रामचंद्र की इस प्रकारकी वृत्तिसे श्वसुरको दुःख होता था। परंतु रामचंद्र लाचार था। जब उस ने सर्वथा गृहत्याग करनेका निश्चय ही करलिया तो उनके श्वसुर को बहुत अधिक दुःख हुआ।

दैवात् इस बीचमें मातापितावोंका स्वर्गवास हुआ। विकराल कालकी कृपासे एक भाई और बहनने विदाई ली। अब रामचंद्र का चित्त और भी उदास हुआ। उसका बंधन छूट गया। अब संसारकी अस्थिरताका उन्होंने स्वानुभवसे पक्का निश्चय किया और उसका चित्त और भी धर्ममार्गपर स्थिर हुआ।

इतने में भाग्योदयसे ऐनापुरमें प्रातःस्मरणीय पूज्यपाद आचार्य शांतिसागर महाराजका पदार्पण हुआ वीतरागी तपोधन मुनिको

देखकर रामचंद्रके चित्तमें संसारभोगसे विरक्ति उत्पन्न होगई। प्राप्त सत्समागमको खोना उचित नहीं समझकर उन्होंने श्री आचार्यचरणमें आजन्म ब्रह्मचर्यव्रतको ग्रहण किया।

सन् १९२५ फरवरी महीनेकी बात है। श्रवणबेलगोल महाक्षेत्रमें श्री बाहुबलिस्वामीका महामस्तकाभिषेक था। इस महाभिषेकके समाचार पाकर ब्रह्मचारिजीने वहां जानेकी इच्छा की। श्रवणबेलगुल जानेके पहिले अपने पास जो कुछ भी संपत्ति थी उसे दानधर्म आदि कर उसका सदुपयोग किया। एवं श्रवण-बेलगुल में आचार्य शांतिसागर महाराजसे क्षुल्लक दीक्षा ली। उस समय आपका शुभनाम क्षुल्लक पार्श्वकीर्ति रखा गया। ध्यान अध्य-यनादि कार्योंमें अपने चित्तको लगाते हुए अपने चारित्र में अपने वृद्धि की व आचार्यचरणमें ही रहने लगे।

चार वर्ष बाद आचार्यपादका चातुर्मास कुंभोज (बाहुबलि पहाड)में हुआ। उस समय आचार्य महाराजने क्षुल्लकजीके चारित्रकी निर्मलता देखकर उन्हें ऐलक जो कि श्रावकपदमें उत्तम स्थान है, उससे दीक्षित किया।

बाहुबलि पहाडपर एक खास बात यह हुई कि संघभक्त-शिरोमणि सेठ पूनमचंद घासीलालजी आचार्यवंदनाके लिये आये। और महाराजके चरणोंमें प्रार्थना की कि मैं सम्मेदशिखरजी के लिये संघ निकालना चाहता हूं। आप अपने संघसहित पधारकर हमें सेवा करनेका अवसर दें। आचार्य महाराजने संघभक्तशिरो-

मणिजीकी विनंतिको प्रसादपूर्ण दृष्टिसे सम्मति दी। शुभमुहूर्त में संघने तीर्थराज की वंदनाके लिये प्रस्थान किया। ऐलक पार्श्वकीर्तिने भी संघके साथ श्रीतीर्थराजकी वंदना के लिये विहार किया। सम्मेद शिखरपर संघके पहुंचने के बाद वहांपर विराट् उत्सव हुआ। महासभा व शास्त्री परिषत् के अधिवेशन हुए। यह उत्सव अभूतपूर्व था। स्थावर तीर्थोंके साथ, जंगम तीर्थोंका वहांपर एकत्र संगम हुआ था।

संघने अनेक स्थानोंमें धर्मवर्षा करते हुए कटनीके चातुर्मास को व्यतीत किया। बादमें दूसरे वर्ष संघका पदार्पण चातुर्मासके लिये ललितपुरमें हुआ। यों तो आचार्य महाराजके संघमें सदा ध्यान अध्ययनके सिवाय साधुवोंकी दूसरी कोई दिनचर्या ही नहीं है। परंतु ललितपुर चातुर्माससे नियमपूर्वक अध्ययन प्रारंभ हुआ। संघमें क्षुल्लक ज्ञानसागरजी जो आज मुनिराज सुधर्मसागरजी के नामसे प्रसिद्ध हैं, विद्वान् व आदर्श साधु थे। उनसे प्रत्येक साधु अध्ययन करते थे। इस ग्रंथके कर्ता श्री ऐलक पार्श्वकीर्तिने भी उन से व्याकरण, सिद्धांत व न्यायको अध्ययन करने के लिये प्रारंभ किया।

आपको तत्वपरिज्ञान में पहिले से अभिरुचि, स्वाभाविक बुद्धि तेज, सतत अध्ययन में लगन, उस में भी ऐसे विद्वान् संयमी विद्यागुरुयोंका समागम, फिर कहना ही क्या? आप बहुत जल्दी निष्णात विद्वान् हुए। इस बीच में सोनागिर सिद्धक्षेत्र में आ को-

श्री आचार्य महाराज ने दिगंबर दीक्षा दी उस समय आपको मुनि कुंथुसागरके नामसे अलंकृत किया। आपके चारित्रमें वृद्धि होनेके बाद ज्ञानमें भी नैर्मल्य बढ गया। ललितपुर चतुर्मास से लेकर ईडरके चातुर्मासपर्यंत आप बराबर अध्ययन करते रहे। आज आप कितने ऊंचे दर्जे के विद्वान् बन गये हैं यह लिखना हास्यास्पद होगा। आपकी विद्वत्ता इसी से स्पष्ट है कि अब आप संस्कृत में ग्रंथका भी निर्माण करने लग गये है। कितने ही वर्ष अध्ययन कर बडी २ उपाधियोंसे विभूषित विद्वानोंको भी हम आप से तुलना नहीं कर सकते। क्यों कि आपमें केवल ज्ञान ही नहीं है अपितु चारित्र जो कि ज्ञानका फल है वह पूर्ण अविकृत होकर आपमें विद्यमान है।

इसलिये आपमें स्वपरकल्याणकारी निर्मण ज्ञान होनेके कारण आप सर्वजनपूज्य हुए हैं। आपकी जिसप्रकार ग्रंथ रचनाकलामें विशेष गति है, उसी प्रकार वक्तृत्वकलामें भी आपको पूर्ण अधिकार है। श्रोताओंके हृदयको आकर्षक करनेका प्रकार, वस्तुस्थितिको निरूपण कर भव्योंको संसारसे तिरस्कार विचार उत्पन्न करनेका प्रकार आपको अच्छी तरह अवगत है। आपके गुण, संयम आदियोंको देखनेपर यह कहे हुए विना नहीं रहसकते कि आचार्य शांतिसागर महाराजने आपका नाम कुंथुसागर बहुत सोच समझकर रखा है।

आपने अपनी क्षुल्लक व ऐलक अवस्थामें अपनी प्रतिभासे बहुत ही अधिक धर्म प्रभावना के कार्य किये है। संस्कारों के प्रचार के लिये सतत उद्योग किया है। करीब तीन चार लाख

व्यक्तियोंको आपने यज्ञोपवीत संस्कारसे संस्कृत किया है। एवं लाखों लोगोंके हृदयमें मद्य मांस मधुकी हेयताको जंचाकर त्याग कराया है। हजारोंको मिथ्यात्वसे हटाकर सम्यग्मार्गमें प्रवृत्ति कराया है। मुनि अवस्थामें उत्तरप्रांतके अनेक स्थानोंमें विहार कर धर्मकी जागृति की है गुजरात प्रांत जो कि चारित्र व संयमकी दृष्टिसे बहुत ही पीछे पडा था उस प्रांतमें छोटेसे छोटे गांवमें विहार कर लोगोंको धर्ममें स्थिर किया है गुजरातके जैन व जैनेतरोंके मुखसे आपके लिए आज यह उद्गार निकलता है कि "साधु हो तो ऐसे ही हों"।

महाराजने अपने दिव्यविहार द्वारा गुजरातके हृदयपर किसप्रकार अधिकार प्राप्त किया है यह हालके आये हुए एक पत्रके उद्गार से स्पष्ट होता है, इसलिये हम उस पत्रको नीचे उध्दृत कर देते हैं।

આપ સુરવે સંઘની સુખાકારી ચાહીયે છીએ. આપ ધર્મરૂપી અમૃતનો વરસાદ વરસાવતા વરસાવતા શ્રી૦ તારંગાજી સિદ્ધક્ષેત્ર પર પહુંચ્યા છો. આપ શ્રીમાનનું સ્વાસ્થ્ય સદૈવ સારૂ રહે તેમ ઇચ્છુ છું. આપે જે ધર્મામૃતથી હમારા ગુજરાતના વતનીઓના મન હરણ કરી લીધા છો. એજ આપના મહાન્ વિદ્યાનો પ્રભાવ છે. આપના ચારિત્રની છાપ એટલી બધી ઉંડી પડી છે કે આપ ગમે ત્યાં હોય છતા આપ શ્રીમાન ધીમાનની મૂર્તીનાં પરોક્ષ દર્શન દરરોજ થયા કરેછે અને આપની સેવામાં હરહમેશ હાજર રહીએવી. અંતરની ઉર્મીઓ ઉછળી રહીછે. આપના દર્શન નો વચનામૃતનો લાભ મળવો ચિંતામણી મળવા બરોબર છે. એક વખત જેમાણે આપના સત્સંગનો લાભ લીધો તે આત્માનુ જરૂર કલ્યાણજ થાય છે. કારણ, આપના પરમ શાંતીની છાપ તેમના હૃદય ઉપર સરસ

પડે છે. આપની ત્યાગવૃત્તીથી પણ જનસમૂહના ઉપર પ્રભાવ વિશેષ પડે છે. આપે જે વીતરાગનો માર્ગ પકડી ભવ્ય જીવોને સર્વોથી કલ્યાણનો માર્ગ મોકળો કરો છો તે પ્રશંસનીય છે. ઘણાં ટાઇમથી ગાઢ અંધકારમાં પડી રહેલ ગુજરાતને આપે ધર્મ દિવાકર ખરેખર દિવાકર બની ગુજરાતને ગાઢ નિદ્રામાંથી અગર મિથ્યાત્વથી જાગતો કર્યો છે. હાલ ખરેખર હમારે તો આપ અર્હંત પરમેશ્વરના તુલ્ય જણાય છો. આપના વચનો જ્યારે જ્યારે યાદ આવે છે ત્યારે ત્યારે આપ પ્રત્યેનો પ્રેમ, સેવા, ભક્તી, ઉભરાય છે. આપના દર્શનની, વચનામૃતની ઘણી અભીલાષા છે. ખનતા સુધી આપની સેવાનો લાભ લેવા થોડા ટાઇમમાહું આવીશ. બાકી ગામના દરેક ભાઈ બેહનો દરબાર સાહેબ, બીજાએ દરેક આપને યાદ કરેછે ને નમોસ્તુ સહર્ષ કેહવરાવે છે. આપ ધર્મામૃતથી અનેક જીવોને સન્માર્ગે લગાડીને ઉપકાર કરી રહ્યા છો. તેને માટે હું તથા મારા સરવે બંધુઓ પૂર્ણ આભારી ને ઋણી છીયે. આપના ગુણગાનનાશા વર્ણન કરીએ? આપના આગળ બોલવું લખવું એ દિવસે દીવા કરવા જેવું છે. કારણ આપ ખરેખર શાંતપરીણામી, અને તપોધન, ધર્મ મૂર્તી છો. માટે જેમ દિવાકરને શું ઉપમા આપીયે? તેમ આપપણ અનુપમ છો.

इसी प्रकार बडे २ राजा महाराजावोंपर भी आपके उपदेश का गहरा प्रभाव पडता है। बहुत से राजावोंने आपके उपदेशसे प्रेरित होकर अपने राज्यमें अहिंसा दिन पालनेकी प्रतिज्ञा ली है। गुजरातमें बडे २ राजा महाराजावोंके द्वारा आपका स्वागत हुआ और हो रहा है। आपके द्वारा अभूतपूर्व धर्मप्रभावना होरही है। यह आपका संक्षिप्त परिचय है। पूर्णतः लिखनेपर स्वतंत्र पुस्तक ही बन सकती है।

ग्रंथविषय

प्रकृतमें दो ग्रंथ पाठकोंकी हाथमें दिये जारहे हैं। उनमें से पहिला ग्रंथ निजात्मशुद्धिभावना व दूसरा ग्रंथ मोक्षमार्गप्रदीप है। पहिले ग्रंथ में आत्मोन्नतिकी भावनाओंका वर्णन किया गया है। मनुष्यको आत्मबलकी वृद्धि करनेकी ओर अपने चित्तप्रवृत्ति बढानी चाहिये। क्यों कि सांसारिक विषयवासनाजन्य आकुलतासे जिनका हृदय कमजोर हुआ है, रात्रिदिन संक्लेश और क्षोभपरिणामों के द्वारा दुःख उठाते रहते हैं, उनके लिये संसार में भी शांति व सुखको देनेवाली यह निजात्मशुद्धिभावना है। विशेष क्या? यह साक्षात् मोक्ष का मंत्र है। इसलिये भव्य इस ग्रंथ का रात्रिदिन मनन करें, अभ्यास करें जिससे आध्यात्मिकबलकी वृद्धि होकर साक्षात् मोक्षमार्ग के अधिकारी बन जाते हैं।

दूसरा ग्रंथ मोक्षमार्गप्रदीप है। मोक्षमार्ग बहुत ही कंटकाकीर्ण है, पापरूपी अंधकारसे युक्त है, क्लेशसंकटरूपी बडे २ खड्डे उसके मार्गमें मौजूद हैं, क्रोधादिकषायरूपी राक्षस मार्गमें रोकते हैं। ऐसे विकटमार्गमें सरलरूपसे पार करने के लिये सचमुचमें यह मोक्षमार्गप्रदीप दीपक है। इसे जो भव्य अपने हाथमें लेता है वह निर्विघ्न उस मोक्षराज्यमें पहुंच जाता है। महर्षिने ग्रंथमें पंचपरमेष्ठियों के गुणवर्णन इसलिए किया है, ये ही गुण लोकमें प्रत्येक मनुष्यको प्राप्त करने योग्य है। प्रत्येक व्यक्ति को लोकवंद्य परमेष्ठिपदको प्राप्त करना चाहिये, तभी उसके जीवन

की सार्थकता है। प्रकृत ग्रंथकी महत्ताको व्यक्त करते हुए महर्षिने " **चिंतामणेः कल्पतरोः समानं** " इस शब्दसे उल्लेख किया है। परंतु हमारे ख्यालसे यह दोनों ग्रंथ उससे भी बढकर हैं। क्यों कि चिंतामणि और कल्पवृक्ष ऐहिक ऐश्वर्यकी पूर्ति कर सकेंगे। परंतु जो भव्य इनका श्रद्धापूर्वक मनन व अनुभव करेगा उसे अभ्युदय व निश्रेयसकी सिद्धि होगी, इसमें कोई संदेह नहीं।

अनुवादन व प्रकाशन

दोनों ग्रंथोंके अनुवादक पं. नानूलालजी शास्त्री वैराठी हैं, श्रीशास्त्रीजी, धर्मात्मा, वर्णाश्रमधर्मके पोषक, कट्टर धर्माभिमानी व्यक्ति हैं। इसलिये ही विद्यादेवी के साथ एक तख्तपर न बैठने वाली लक्ष्मीदेवी की भी उनपर कृपा है, यह प्रसन्नताकी बात है। जैनसमाजमें आप तो सर्वपरिचित हैं। देवगुरुभक्ति तो आपके हृदय में ओतप्रोत होकर भरगई है। यही कारण है कि आपने परिश्रमपूर्वक इसका भाषानुवाद करके सर्व स्वाध्यायप्रेमियोंको उपकार किया है, इतना ही नहीं, इस ग्रंथकी एक हजार प्रति शास्त्रदान के लिये अपने खर्चेसे प्रकाशित किया है। इसके लिये हम आपका अत्यंत कृतज्ञ हैं। इससे अधिक गुरुभक्तिका अनुकरणीय आदर्श नमूना और क्या हो सकता है? इस ग्रंथ की एक हजार प्रतिका प्रकाशन सितवाडानिवासी धर्मात्मा श्रीमती नानी व्हेन की ओरसे हुआ है। नानी व्हेन का भी यह कार्य स्तुत्य ही

नहीं, महिलासमाज के लिये अनुकरणीय है। दोनों का विस्तृत परिचय उनके द्वारा प्रकाशित प्रतियोंमें दिया गया है।

उपसंहार

यह निश्चित है कि दोनों ग्रंथोंकी रचना कर महर्षिने स्वाध्याय प्रेमियोंपर अनंत उपकार किया है। इसी प्रकार उन्होंने पहिले भी कई ग्रंथोंकी रचना की है, और भी कर रहे हैं। जिनसे भव्यवृंद को यथेष्ट लाभ हो रहा है और होगा। उनके इस निस्पृह उपकारसे हम कभी उऋण नहीं हो सकते। परंतु वीतरागी तपोधन मुनिराज अपनी निस्पृहवृत्तियोंका बदलाकी आकांक्षा नहीं रखते हैं। हम भक्तिपूर्वक इनका स्वाध्याय करें तो भी हम समझते हैं कि उन्होंने ध्यानाध्ययनादिके अमूल्य समयको जो इस कार्यमें लगाया वह सफल हो जायगा। आशा है कि धर्मप्रेमी सज्जन अपने कर्तव्य का पालन करेंगे। मुनिराज प्रातःस्मरणीय **श्री कुंथुसागर महाराज** के इस चिरस्मरणीय उपकार के लिये हम उनके चरणोंमें श्रद्धांजलि समर्पण करते हैं। एवं भावना करते हैं कि उनके आयुरारोग्य की वृद्धि होकर वे दीर्घायुषी बनें जिससे कि उनके द्वारा इहलोक्यनिक लोककल्याणकारी कृतियोंका निर्माण होकर उनका धवलयश आचंद्रार्कस्थायी बने।

सोलापूर
भाद्रपद शु॥ ५
वी. सं. २४६४

गुरुचरणसरोजचंचरीक
वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री
(विद्यावाचस्पति)

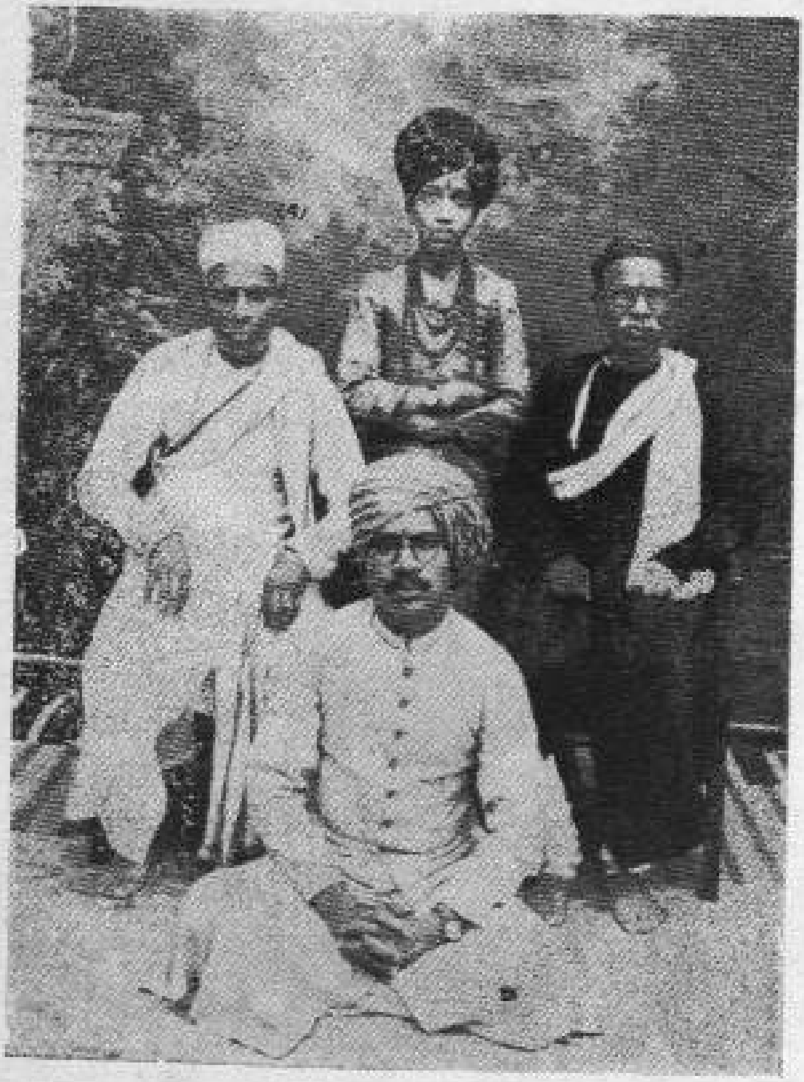

१ श्री संघी मुनीम **कन्हैयालालजी बैराठी.**
ज्येष्ठभ्राता पं. **नानूलाल बैराठी.**
२ श्री संघी मुनीम पं. **नानूलालजी शास्त्री.**
३ श्री कुंवर **भूरामलजी बैराठी,**
सुपुत्र श्री पं. **नानूलालजी बैराठी,** [बीच में बैठे हुए]
४ कुंवर **रतनलालजी बैराठी.**
सुपौत्र श्री पं. **नानूलालजी बैराठी,** (खडे हुए बीचमें)

अनुवादकका परिचय.

भारत वर्ष में राजपुताना प्रांत में सवाई जयपुर जैन दिगंबरों का ऐतिहासिक प्रसिद्ध नगर है। जो कि जैनपुर का अपभ्रंश होकर आज जयपुर के नाम से विख्यात है। इस नगर की सुंदरता व स्वच्छता को देखनेपर यह साक्षात इंद्रपुरी के समान मालुम होता है। यहां के शासक राजा महाराजा धर्मात्मा, प्रजापालक होते आये हैं और वर्तमान जयपुरनरेश श्रीमन्महाराजाधिराज सवाई मानसिंहजी वर्मा बहादुर भी अपने पूर्वजोंकी तरह धर्म रक्षक एवं प्रजापालक हैं। यहां दिगंबर जैनियों का अच्छा समुदाय है। पहिले ५००० घरो में १५००० करीब जन समूह था, और राज्य के प्रधान मंत्रीसे लेकर अनेक उच्च पदोंपर जैन दिगंबर ही नियत थे। अब भी यहांपर करीब २००० घर दिगंबर जैनियों के हैं जिन में करीब ६००० की जनसंख्या है। दिगंबर जैन मंदिर यहांपर करीब १७५-२०० हैं। यह जयपुर जैनियोंका एक खास तीर्थस्थान कहा जा सकता है।

इस जयपुर में वैराठ नामक एक नगर है जो इस ग्रंथ के अनुवादक श्री. पं. नानूलालजी शास्त्री की जन्मभूमि है। यह वैराठ जयपुर स्टेटकी तहशील है, इस में पुलिस थाना, कष्टम आफिस, अस्पताल, मिडल स्कूल आदि राज्यकी तरफ से मौजूद

हैं, जयपुर से यह स्थान ५१ मीलपर है। यहांपर दिगंबर जैनियों के विशाल जिन मंदिर व बाहर दर्शनीय विशाल दिगंबर जैन नशियां भी हैं। जैन मंदिर के पास दि० जैनधर्मशाला व दि० जैन पाठशाला भी हैं। यहां जैन अग्रवालों कानिवास है, अब उनका १०० घर मौजूद हैं जो धर्मात्मा जिनपूजादि सत्कार्योंमें तत्पर हैं।

यह वैराट नगर पहिले विराट राजाका वास्तव्य राजधानी था जिस में मोक्षगामी पंच पांडवोंने अपनी विदेश यात्रा पूर्ण की थी। सती द्रौपदी के सतीत्व को अपहरण करने की दुर्भावना करनेवाले कीचक का यहां पर पतन हुआ था, और सती द्रौपदी का शीलसंरक्षण हुआ था। अब भी यहांपर प्राचीन ऐतिहासिक चिन्ह विद्यमान हैं। अर्जुन के बाण से निकली हुई बाणगंगा नदी एवं भीम के हाथ से निकली हुई भीमलता व भीमगढ़ा अब भी उनका स्मरण दिलाते हैं। जयपुर स्टेट के पुरातत्वविभाग के सुपरिंटेंडेंटने अन्वेषण कर यहां भूगर्भ में राजमहल किला आदिको निकाले हैं। यह इतिहास प्रसिद्ध वैराट नगर सदा धार्मिक सज्जनोंका निवास स्थान रहा है, यहांपर विद्वत्कुलकी प्रसूति भी होती आई है। लाटी संहिता व पंचाध्यायी के कर्ता विद्वान् राजमल्लजी यहांपर हुए हैं। एवं इस ग्रंथ के अनुवादक पं. नानूलालजी शास्त्रीने भी इसी स्थानमें जन्म लिया है।

वैराट नगर में संगई कुल जैन दिगंबर अग्रवालों का सम्मान्य वंश है, जिस में धर्मपरायण श्रीमान् संगई मुनीम भरतमलजी हुए। ये बडे धर्मात्मा त्यागी ब्रम्हचारी सम्यग्दृष्टि श्रावकोत्तम थे। बाल्यावस्था में ही हिंदी व उर्दू के जानकार थे। राज्य के उच्च पदपर प्रतिष्ठित होनेपर भी इनको रंच मात्र भी अभिमान नहीं था। ये अनेक प्रकार से त्याग और संयम को धारण करते थे, गोम्मटसार के भी अच्छे ज्ञाता थे। सदा नियमित रूपसे स्वाध्याय शास्त्रश्रवण करते थे इन की धर्मपत्नी शीलवती थी और सदा इनके कार्योंमें सहयोग देती थी। सदा धर्मकार्यों में तत्पर रहती थी। अपने पतिदेव के साथ उन्होंने सम्मेदशिखर, पावापुर, चंपापुर, तारंगाजी आदि सिद्धक्षेत्रों की वंदना कर पुण्य संचय किया था। इन के २ पुत्री हुई और चार पुत्र हुए। बडी पुत्री मोहरबाई बाल्यावस्था में ही विधवा हो गई थी एवं एक वर्ष के बाद ही धर्म में दृढ रहकर स्वर्गगत हुई। दूसरी पुत्री छिम्माबाई है। जयपुर में श्री रामप्रसादजी जैन लवाणवालों के सुपुत्र श्री. नाथूलालजी के साथ विवाह हुआ है। दोनों पति पत्नी आनंद से धर्मसाधन कर रहे है। श्रीमान् भरतमलजी पूर्ण धर्मप्रभावना में निरत रहते थे। वैराट में कभी मेला नही होता था। विक्रम १९३७ में नशियाजी वैराठ का मेला महोत्सव रथयात्रा आदि का सर्व पंच साहबान की सहायतासे श्रीमान् भरतमलजीनें कराया जिस में बडी विघ्न बाधाएं आई परन्तु राज्य से पूर्ण सहा

यता प्राप्त कर निर्विघ्नतासे पूजा महोत्सव हुवा और वैराठ में रथ यात्रा हो तो आगे का मार्ग निष्कंटक हो गया। आप जयपुरसे राज्य व समाजमान्य होते हुये बड़ी गंभीरता से धर्मसेवा करते रहे और राज्य के अच्छे अधिकार पर हो कर परोपकार व इमान दारी से काम करते थे जिस से बडे बडे प्रधान मंत्री तक प्रसन्न थे। आप का स्वर्गवास वैशाख व. ११ सं. १९४७ में ही समाधि मरण पूर्वक हो गया। इस समाधिमरण में इन के धर्ममित्र स्वर्गीय पं० मोतीलालजी नें भाग लिया व इस ग्रंथके अनुवादक नानूलाल शास्त्री के अल्पावस्था में (१४ वर्ष) ही बहुत साथ दे कर अपना पुत्रत्व सफल किया। एवं प्रकार जब श्रीमान् भरतमलजी का स्वर्गवास हो गया तो उन की धर्मपत्नी बाईजी की अवस्था २९ वर्ष की थी। आप ब्रह्मचारिणी तो थी ही। चारो पुत्ररत्नो नें भी आप को धर्मसाधन में बहुत साथ दिया जिस में आदर्श सती प्रातःस्मरणीय हो गई। एक काली साडी वस्त्र पहिनती थी सर्व आभूषणों का त्याग कर दिया। सिर्फ पैरोमें कडे थे। सर्व तीर्थ क्षेत्रों की यात्रा की मेला महोत्सवों में सदा जाती। बिम्ब प्रतिष्ठायें कई देखी। एक माह में अष्टमी चतुर्दशी के उपवास करना तो मामुली बात थी। प्रत्युत १ मास में दस दस उपवास करती थी बेला तेला अठाई रत्नत्रय दशलक्षण सोलाकारण पंचमेरु आदि बडे बडे व्रत किये। रात्रि को जलपान करने तक का त्याग था। एक समय अष्टान्हिक व्रतमे ११ उपवास इकदम आप को हो

गये तो भी बडा उत्साह रहा. गरीब दुःखितों की दया इतनी थी कि अहर्निश आहार वस्त्र आदि वितीर्ण करती थी। साधर्मिणी स्त्रियों की यथासाध्य सहाय करती। पात्रदान में जयपुरमें अग्रसर थी. कोई भी त्यागी व्रती ब्रम्हचारी क्षुल्लक ऐलक मुनि महाराज आने से पहले चोका करती। जिस में उक्त ग्रंथ के अनुवादक नानूलाल शास्त्री आप के सुपुत्र पूर्ण सहायक रहते. १९७८ में श्री १०८ चंद्रसागरजी पुराने मुनिमहाराजने जयपुरमें चातुर्मास किया। ऐलक पन्नालाल जी के तो आहारदान का विशेष लाभ इन को हुआ प्रत्युत श्री १०८ चंद्रसागर जी महाराज के चातुर्मास समाप्त होने पर भी जयपुर बाहर कई महिने तक जयपुर इलाकाके व टोंक तक चोका लेकर साथ गई एवंप्रकार १०८ श्री धर्मसागर जी ऐलक व श्री श्रुतसागर जी क्षुल्लक दक्षिण निवासियों का चातुर्मास जयपुरमें हुआ तब भी चातुर्मास के बाद बडवानी तक चोका लेकर साथ गई। एवंप्रकार पात्रदान में पूर्ण सन्नद्ध थी. नित्य प्रति प्रातःकाल २ बजे उठना सैंकडों पद बीनती बोलकर नित्य क्रिया से निवृत्त होकर श्री मंदिर जी में प्रातःकाल ४—५ बजे पहुंचना वहां पूजन प्रक्षाल स्वाध्यायादि श्रवण कर व जाप्य करके १५-२० मंदिरों के नित्य दर्शन करना, तथा साधर्मियों की सम्हाल वैयावृत्य करि गृह आकर पात्रों को दान देकर अपने पुत्रादिकों को भोजन कराके फिर स्वयं भोजन करना उनका नित्य

कृत्य था. फिर मध्यान्हकालीन जिनदर्शन जाप्य करना व पूजन यथावत् करना त्यागी व्रती ब्रह्मचारी ऐलक क्षुल्लकादि होवें श्रीमुनि महाराज होवे तो उन का उपदेश श्रवण करना नहीं तो वीनतीपाठ नूतन का अभ्यास करना फिर गृह आना फिर कुटुम्बादि की सम्हाल कर भोजन या जल ग्रहण कर त्याग कर सायंकाल रात्रिको मंदिर जाना शास्त्रश्रवण भजन वीनती बोलकर रात्रि को ९।१० बजे घरपर शयन करना आपका नित्य कृत्य था. आप के शीलमहात्म्य से रोगियों के रोग जाते रहते, जरासा लावण के माडासे बडे बडे गुमडे फुणसी जाते रहते थे इत्यादि गुणसंपन्न इस आदर्श स्त्रिरत्न ने अपने वैधव्य काल को जो २९ वर्ष की अवस्थामें प्राप्त हुई वैधव्यदीक्षासे व्यतीत करने के साथ २ अपनी चार पुत्ररत्नों की पूर्ण सम्हाल का और इन को सर्व प्रकार से उन्नत किये। चारों पुत्रों के नाम यह है. सबसे ज्येष्ठ भ्राता महादेवलालजी द्वितीय पुत्र कन्हैयालाल जी तृतीय नानूलालजी शास्त्री, चतुर्थ पुत्र ऋषभचंद्रजी यह सर्व ही धर्मात्मा सदाचारी जिनधर्म परायण देवगुरु शास्त्र के भक्त प्रसिद्ध है इन में तीसरा पुत्र नानूलाल शास्त्री जयपुर निवासी इन पुस्तकों के अनुवादक हैं। जिन से सर्व समाज परिचित है. और आपने भ्राताओं की उन्नति के कारण हो कर अपना कर्तव्य पालन किया है। अर्थात् जयपुर में रहकर सदा आपने भाइयों की पूर्ण उन्नति में सन्नद्ध रहे है।

एवं प्रकार यह उक्त चार पत्रों की माता अपने पुण्य से पौत्र पौत्र्यादि के सुख की भागिनी भी हुई और चारों पुत्र चमकते हुए सूर्यचंद्रमाओं की तरह आप के पुण्य से दिन बदिन आर्थिक व राजकीय व परिवार आदि की उन्नति को प्राप्त होते रहे ४० वर्ष पर्यन्त बराबर इस परिवार के रक्षक हुई। ७९ वर्ष की अवस्था तक पांचों इंद्रिया बहाल व दांत भी बहाल। सर्व कुटुंब को व पात्रों को दान देकर ही आहार करती थी और मंदिर जी बराबर जाती थी। केवल १ दिन मामूली बीमार रही, पौ. शु० ५ १९८५ को दिन के ११ बजे समाधिमरण पूर्वक स्वर्गवास कर गई। आप स्वयं पाठ विनती बोलती रही एवं सैकडो स्त्री-पुरुष पाठ बीनती मृत्युमहोत्सव द्वादशानुप्रेक्षा श्रवण कराते थे स्वयं-सावधानतासे समाधिमरण पूर्वक अनित्य शरीरको छोडकर शाश्वत सुख के वास्ते स्वर्गारोहण किया। ऐसा मरण त्यागी ब्रम्हचारियोंका ही होता है। अब आपके चारों पुत्ररत्नों का वृत्तान्त इस प्रकार है कि इन में सब से ज्येष्ठभ्राता मुनीम संगही महादेवलालजी जन्मभूमि बैराठ में रहते थे, और वंशपरंपरागत तहसील बैराठ की मुनीमात [कानूगोई] करते थे. बडे धर्मात्मा मिलनसार परोपकारी त्यागी शुद्धभोजी देवगुरुशास्त्र के भक्त थे। फारसी, उर्दू, हिंदी, साहित्य व धर्मग्रंथो के जानकार नित्य जिनदर्शन स्वाध्यायादि नित्य क्रिया व णमोकार मंत्र की मालाका जाप्य व यथा वसर पूजन भी किया करते थे, आप समाज व राज्य में प्रसिद्ध

व सन्मानित थे । राज के प्रधान मंत्रीजी तक आप को जानते थे. उक्त शास्त्री इन के लघुभ्राता इनकी सर्व प्रकार की उन्नति में दत्तावधान रहते हुये सेवा शुश्रूषा सदा किया करते थे । इन का स्वर्गवास सं. १९८६ में कार्तिक सुदी ३ को ६० वर्ष की अवस्था में समाधिमरणपूर्वक होगया ।

चौथे पुत्र सब से छोटे उक्त शास्त्रीजी के लघुभ्राता श्रीमान् मुन्शी संगही ऋषभचंदजी थे, पिताजी के मरण के समय इनकी अवस्था ९ वर्ष की थी । उक्त शास्त्रीजीने इन को उर्दू, हिंदी संस्कृत हिंदी आदिका अभ्यास कराकर अच्छे विद्वान व मुन्शी बनाया । यहां तक कि दिगंबरजैनमहापाठशाला में उपाध्याय परीक्षा तक अध्ययन कराके धर्मशास्त्रोंके भी ज्ञाता किये—बडे सज्जन मिलनसार धर्मात्मा परोपकारी देवगुरु शास्त्रके भक्त जिनपूजनस्वाध्यायादि कार्योंमें सदा सन्नद्ध थे । बाल्यावस्था में ही १५ वर्ष की अवस्था में ही इन को शास्त्रीजीने राज्य में तहसील में (मोहरिर) मुनशी पदपर नियुक्त करा दिया । फिर अपनी योग्यता व शास्त्री जी के अदम्य परिश्रम व प्रयत्नों से यह तहसीलदारी के पदपर रियासत जयपुरमें नियुक्त होगये । बडे बडे अफसर दीवान स्टेट कौन्सिल जयपुर के मेम्बर व प्रधान मंत्री तक आप से प्रसन्न रहे और ३५ वर्ष तक बडी योग्यता से आपने आप के फर्ज अदा किये । जहां गये जिस तहशील आदि में गये वहां ही पाठशाला आदि स्थापन कराई। जिनमंदिरोंकी जीविका वृद्धिगत की।

मेरामहोत्सव कराये। रथ यात्रायें कराई। सर्वोके प्रीतिभाजन यशस्वी हुये फिर राज्य ने पिनशन कर दी। २ वर्ष पिनसनर कहलाये और कार्तिक व. ५ स. १९९० को ५२ वर्ष की आवस्था में जयपुर में णमोकारमंत्र स्मरण करते हुये स्वर्गवास कर गये। द्वितीय पुत्र अर्थात् उक्त शास्त्रीजी के द्वितीय ज्येष्ठ भ्राता मुनीम संगई कन्हैयालालजी हैं जो ४ वर्ष की उमर से ही पिता भरत मलजी के पितृव्य मुनीम संगही शिवलालजी जो रा. ब. सेठ मूलचंद नेमीचंदजी अजमेर की कोठी केकडी दुकानपर मुनीम थे और सच्चे धर्मात्मा जिनेंद्रभक्त, जिनपूजक, स्वाध्यायादिकार्यों में निरत थे उनके गोदनशीन (दत्तक पुत्र) थे और उन के पास ही रहते थे और जयपुर भी रहते थे। उन्होने दिगंबर जैन पाठ शाला में संस्कृत धार्मिक ग्रंथोंका अध्ययन व पारसी उर्दूका भी अध्ययन किया था। आप बाल्यावस्थामें ही शांतचित्त परिश्रमी, जिनपूजा स्वाध्यायादिमें अहर्निश तत्पर थे। एवं देव गुरुशास्त्र के भक्त सम्यग्दृष्टी परोपकारी सज्जन हैं। आपको रा. ब. सेठ मूलचंदजीने पुत्रवत् पालन किया। १२ वर्ष की अवस्थामें ही इनको पनवाड दुकानपर रोकडिया (खजांची) नियत किया। इनकी योग्यतासे रा. ब. सेठ मूलचंदजी, रा. ब. सेठ टीकमचंदजी, रा. ब. सेठ भागचंदजी अजमेरवाले प्रसन्न होकर क्रमशः उन्नति करते रहे। और मुनीमात (प्रधान पद) भरतपुरकी दी। इसी प्रकार धौलपुर स्टेट के उक्त सेठ साहेबकी

तरफसे आप खजानेके अफसर रहे। बडे २ अफसर एवं अंग्रेज साहबानकों के सार्टिफिकेट हांसिल किये। बल्कि खजाने के अतिरिक्त सेठ साहब की कोठीका भी काम इस प्रकार किया कि दरबार महाराणा धोलपुर व सेठ साहूकारान व सर्व साधारण प्रजा अमीर गरीब सब आपसे प्रसन्न रहे। श्री. रा. ब. सेठ साहेबने आप को उन्नति के साथ संवत् १९७८ में भरतपुर के मुनीम नियत कर दिये। परंतु आपने उदासीनता धारण करली। और संवत १९७८ तक पूरे परिश्रम व पूरी ईमानदारी से यह काम किया। फिर जयपुर में आकर निवास किया और संतोष वृत्ति से धर्म साधन कर रहे हैं। अपने लघुभ्राता पं. नानूलालजी शास्त्री जो कि प्रकृतग्रंथों के अनुवादक हैं उनके साथ पूर्ण सहानुभूतिपूर्वक स्नेह रखते हैं। सदा परोपकार करना दीन दुखियोंका दुःख दूर करना, रोगियोंका रोग दूर करना, दीनों को भोजन वस्त्र देना स्वाध्यायादिमें अहर्निश मग्न रहना इनका कार्य है। इनकी धर्मपत्नी बीलंदकवरजी भी बडी धर्मात्मा पतिव्रता, शीलवती उदार हृदया थी। पतिकी पूर्ण भक्त थी। धोलपुर स्टेट के खजानची अपने पति श्री सिद्धक्षेत्र सोनागिरजी की वन्दना को जब जब जाते आप भी उनके साथ जाती और पतिसे प्रेरणा यही करती रहती कि यहां मन्दिर निर्माण करावें और यह हार्दिक उत्कट भावना उसकी थी कि सदा जिनदर्शन पूजनस्वाध्याय तप आदि धार्मिक क्रियाओं को देख व कर के

पतिभक्तिमें तत्पर रहती हुई धर्म में स्थिर रहे । तीर्थयात्रा सम्मेद शिखरजी चंपापुरी पावापुरी काशी प्रयाग अयोध्या सोनागिर खण्डगिरी उदयगिरि जंबूस्वामी महावीरजी चमत्कारजी आदिकी बडे उत्साहसे की। और सदा आचार्य शान्तिसागरादि मुनिमण्डली की पूर्ण भक्ता थी । रात्रिको जलपान तक की त्यागिनी संयमधारिणी थी। अकस्मात सं० १९९१ कार्तिक सु. ६ को रात्रिके समय णमोकार मन्त्र स्मरण करती करती त्याग अवस्थामें ही इनका समाधि मरण होगया। ऐसा मरण बडी बडी विदुषी त्यागिनी स्त्रियोंका होना भी कठिन है इनके मरण की स्मृतिमें नीचे लिखे हुए धर्म कार्य अपने लघुभ्राता नानूलाल शास्त्री की संमति से किये।

(१) धर्म पत्नी की स्मृति में उक्त मुनीम संगई कन्हैयालालजीने और स्वयं अपनी स्मृति में कुल ४०००) उसी समय सर्व जयपुर के मन्दिर चैत्यालय दिगंबर जैन संस्था, सिद्धक्षेत्र, तीर्थक्षेत्र व समाचार पत्र आदि को समर्पण किये।

(२) श्री १००८ सोनागिर जी सिद्ध क्षेत्र (पर्वत) पर अपनी उक्त धर्मपत्नी की हार्दिक इच्छानुसार उसकी स्मृति में एक मन्दिर एवं दो नूतन मन्दिर ज्ञान गुदडी के पास निर्माण कराये और सं० १९९२ में ही श्री राजगृही जी सिद्धक्षेत्र पर श्री १००८ अजितनाथ स्वामीजी व श्री १००८ सुमतिनाथ स्वामीजी के खडगासन के दो प्रतिबिंब मकराणा जयपुर के प्रसिद्ध

सिलावट रामचन्द्रजीसे तैयार कराकर श्री सिद्धक्षेत्र राजगृहीमें फाल्गुन शु. ५ सं० १९९२ में पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव कराया तथा चैत बदी सं० ९२ को श्री सोनागिरजी सिद्धक्षेत्र-पर मेला के मौकेपर वेदी प्रतिष्ठापूर्वक ज्ञान गुदड़ीके पास नं. ३१ वाले मन्दिरजी के नजदीक बने हुए दो नूतन मन्दिरोंमें उक्त प्रतिमायें विराजमान हुईं। इस कार्य में न्यायालंकार विद्यावारिधि धर्मवीर श्रीमान् पं. मक्खनलालजी शास्त्री (मोरेना) का पूर्ण सहानुभूति से व उक्त तीर्थक्षेत्रकमेटी के सुयोग्य सभापति रायसाहिब लाला रूपचन्दजी रईस कानपुर तथा सुयोग्य मन्त्री सेठ गप्पूलालजी बाकलीवाल लश्कर व सुयोग्य कोषाध्यक्ष श्रीमान् सेठ कन्हैयालालजी गंगवाल लश्कर और अन्यान्य सर्व ही सभासद महोदयों की बहुत सहायता हुई कि जिन्होंने मन्दिर निर्माण की स्वीकृति देने के साथ साथ २००) नगद मन्दिरोंकी पूजन खर्च के वास्ते लिया। इस बुद्धिमानी का किन शब्दो मे धन्यवाद दिया जावें कि पूजन खर्चका प्रबंध होना अत्यावश्यक था। तथा साथ ही श्रीमान् सेठ गुलाबचन्दजी दोशी मुरार को अधिकार दिया कि वे पूर्ण परिश्रम व अपनी निगरानी और सम्हालसे दोनों मन्दिर शीघ्र तैयार करावें। उक्त सेठ गुलाब-चन्दजी दोशी मुरार (लश्कर) बड़े उत्साही धर्मनिष्ठ परिश्रमी धर्मप्रेमी निपुण इंजनीयर हैं। सो अतिशीघ्र (१० मासमें ही) दोनों मन्दिर अत्यन्त सुन्दर बनवा दिये जिससे मेला के अवसर-

पर चैत्र कृ- १ सं. १९९२ को ही श्रीजी मन्दिरमें महोत्सव पूर्वक विराजमान होकर बराबर सब यात्रियों को आनन्द हर्ष व पुण्य के साधन होगये । वास्तव में उक्त तीर्थक्षेत्र कमेटी के सभ्य (मेंबर) व कार्यकर्त्ता महाशय बडे सज्जन और धार्मिक हैं इसी कारण यह तीर्थराज जीर्णोद्धारादि से उन्नत हो रहा है। इसमन्दिर निर्माण कार्यमें २५००) के करीब रुपये लगे हैं ।

(३) जयपुर में श्री दीवानजी के छोटे मन्दिरजी जिसमें अहर्निशि उक्त शास्त्रीजी व उक्त कन्हैयालालजी धर्मसाधन करते हैं एवं शास्त्रीजी इस मन्दिरमें पूजन व शास्त्रप्रवचन करते हैं, इस मन्दिरमें मकरानाके सफेदपाषाण की एक मनोज्ञ मूर्ति श्री १००८ चन्द्रप्रभूस्वामी की (६ फूट उंची) जो कि पहिले एक आलेमें थी उसकी सुन्दर सुवर्ण के काम की मनोहर वेदी बनवाई । वेदीप्रतिष्ठामहोत्सव पूर्वक सं. १९९१ में उक्त वेदीमें श्रीजी विराजमान हुए। इसमें करीब १०००) रुपये लगे ।

(४) अपनी जन्मभूमि वैराठमें मकरानाके सफेदपाषाण का नूतन समवसरणजी का श्री पंचायती बडा मन्दिर में स्थापन किया । जिसमें श्री १००८ आदिनाथस्वामीजी चन्द्रप्रभ स्वामीजी शान्तिनाथस्वामीजी व महावीरस्वामीजी की चतुर्मुख प्रतिमा विराजमान कराई। ये प्रतिमायें भी राजगृही में फा. सु.

५ सं १९९२ को प्रतिष्ठित हुई हैं । समवसरणकी वेदीप्रतिष्ठा सिद्धान्तशास्त्री पूज्य ब्र० पं. गौरीलालजी देहली निवासी व पूज्य ब्रह्मचारी चान्दमलजी उदयपुरवालों के हाथ से वैशाख. कृ.७ सं १९९४ में महोत्सवपूर्वक कराई । इस कार्य में करीब १५००) लगे ।

(५) जयपुरीय मन्दिरजी पापलियान आदिके जीर्णोद्धारमें करीब ५००) रुपये दिये ।

(६) जयपुर के उक्त छोटे दिवानजी के मन्दिरजी में व श्री मन्दिरजी बैराठियानमें फर्शबंदी वगैरह में करीब ५००) रुपये लगे ।

(७) अपनी धर्मपत्नी की जन्मभूमि टोरडीगांव [जयपुर] के जिनमंदिरजी में पंचमेरु लगाये और उत्सव किया जिसमें करीब २५०) लगे ।

(८) और अन्य धर्मकार्यों में रु १५००) करीब लगे ।

(९) अपनी धर्मपत्नी का मोसर व अपना [कन्हैयालालजीका] जीवितमोसर जयपुरमें व अपनी जन्मभूमि बैराठमें किये जिसमें २०००) के करीब खर्च हुए ।

इस प्रकार धर्मकार्यों में करीब १५०००) रुपए उक्त मुनीम संगई कन्हैयालालजीने अपने लघुभ्राता शास्त्री नानूलालजी की सम्म

तिसे सहर्ष लगाये हैं । और अब भी बराबर धार्मिककार्यों में तत्पर हैं। ४९ वर्षसे आप रात्रिजलके त्यागी हैं । बाल्यावस्थासे ही शुद्ध अन्न जल के व्रती ब्रह्मचारी सम्यक्त्वी अष्टमी चतुर्दशी को उपवास करनेवाले एवं भाद्रपदादि पर्वदिवसों में यथावसर एक बार भोजन करनेवाले हैं। तथा सर्वदा शास्त्रस्वाध्यायादि धार्मिक कार्यों में लीन रहते हैं। सदा देवगुरुशास्त्रकी भक्तिमें लवलीन हैं श्री चारित्रचक्रवर्ती १०८ आचार्य शांतिसागरजी महाराज एवं इनकी शिष्यमंडली के श्री १०८ कुंथुसागरजी, चंद्रसागरजी, वीरसागरजी, नमिसागरजी, नेमिसागरजी, आदिके तथा ज्ञानसागरजी, सिद्धसागरजी आदि सर्व निर्ग्रंथों के परमभक्त हैं । और त्यागी, व्रती, ऐलक-क्षुल्लक ब्रम्हचारी, आदि त्यागियों के वैय्यावृत्य में लगे रहते हैं। इस तरह अपना सारा समय धर्म सेवनमें व्यतीत करते हैं। और सामयिकादि भी यथासमय करते हैं। अब भी आपकी हार्दिक इच्छा है कि अपना जीवन धर्मकार्यों में तत्पर रहते हुए व्यतीत हो। आप श्री दि० जैन पाठशालासे सुशिक्षित हुए हैं। और रा. ब. सेठ मूलचंदजी नेमचंदजी टीकमचंदजी, भागचंदजी आदि धर्मनिष्ट महापुरुषोंकी संगति से तथा अपने लघुभ्राता श्री पं. नानूलालजी के सहयोगसे धर्म में तत्पर हो रहें हैं। और शांतिसे अपना समय व्यतीत कर रहे हैं।

———

श्रीमान् पंडित नानूलालजी शास्त्री

(इस ग्रंथ के अनुवादक)

तृतीय पुत्र समाजप्रसिद्ध श्रीमान् पंडित नानूलालजी शास्त्री हैं जो इस ग्रंथ के अनुवादक हैं। आपका जन्म कार्तिक कृ० १ सं० १९३४ में हुआ है। आप बाल्यकालीन ५ वर्ष की अवस्थासे ही हिन्दी का अभ्यास करने लगे। आप प्रतिभाशाली थे सो शीघ्र ही हिन्दी के अच्छे जानकार हो गये एवं उर्दू भाषा के जानकार भी हुए। १० वर्ष की अवस्थासे श्रीमती दि० जैन पाठशाला जयपुर में संस्कृत का अभ्यास प्रारंभ किया। शास्त्री श्रेणीतक उत्तीर्ण पत्र प्राप्त किये। प्रारंभ से ही प्रतिभाशाली होने से प्रत्येक श्रेणी में डबलपास श्रेण्यारोहण करते रहे। सब विद्यार्थियों में प्रथम नंबर रहे। और तत्कालीन दि० जैन विद्यालय अजमेर, मुंबई, मथुरा, ब्यावर आदि की परीक्षाओं में सर्व प्रथम नंबर रहे। और पारितोषिक भी प्रथम ही पाते थे। १४ वर्ष की अवस्था में आप के पिताजी समाधिमरण कर गये। तब रा. ब. सेठ मूलचन्दजीने सं० १९४८ में अपनी जयपुर दुकानपर रोकड़िया (खजानची) कर दिया। फिर आप दुकान का काम भी करते रहे और साथ ही साथ उक्त पाठशाला में संस्कृत का अभ्यास भी बराबर करते रहे। जिसका फल यह हुआ कि

श्री संघी मुनीम पं० नानूलालजी शास्त्री वैराठी जयपुर.

(अनुवादक व प्रकाशक)

जयपुर राजकीयसंस्कृतोपाधिपरीक्षा जो कलकत्ता बनारस की संस्कृतोपाधिपरीक्षा के समान प्रतिष्ठित है। उस परीक्षा का प्रारंभ इस दि० जैन पाठशाला में सं० १९५१ से हुआ। जिस में आपही अपने चार साथियों को लेकर प्रविष्ट होकर प्रवेशिका परीक्षा दी। और सब से प्रथम रहे। जयपुर की दि० जैन पाठशाला में राजकीय संस्कृतोपाधिपरीक्षा का बीजारोपण आपने ही किया। और क्रमशः १९५४ में उपाध्याय परीक्षा व १९५६ में साहित्यशास्त्री परीक्षा में भी आप सर्व प्रथम रहे। और ये परीक्षायें अबतक बराबर इस पाठशाला से दी जा रही हैं। अतः दि० जैन पाठशाला जयपुर के महत्व व उत्कर्ष के सर्व प्रथम कारण आप हैं। इतनाही नहीं सं० १९४९ में रा. ब. बाबू कान्तिचन्द्र मुकुटजी प्रधान मन्त्री जयपुर स्टेट जब उक्त पाठशाला में पधारे तब आप की परीक्षा लेकर प्रसन्न हुए और पाठशालाभवन में राज्य की तरफ से दो नूतन महल बनवा दिये। जिन में सुखपूर्वक अद्यावधि विद्यार्थी विद्याध्ययन कर रहे हैं। और सं० १९५१ में ५०) माहवार पाठशाला की सहायता के किये उक्त बाबूसाहब प्रधानमन्त्रीजीने राज्य से स्वीकृत कराये। इस प्रकार इनका उत्कर्ष विद्यारसिकता व पाठशालीयभक्ति देखकर श्रीमान् स्वर्गीय पं. भोलीलालजी सेठी मन्त्रीमहोदय भी पाठशालीय कार्य आपकी सम्मतिसे करते थे। और उक्त पंडित भोलीलालजी धर्मग्रंथोंका अध्ययन नानू-

लालजी को कराते थे। इन को सदैव पुत्रवत् देखते थे। पंडित भोगीलालजी का स्वर्गवास वैशाख कृ. ११ सं. १९५७ में होगया। उस समय उन्होंने उक्त पाठशाला की बागडोर शास्त्री नानूलालजी को दी। पं. नानूलालजीने इस पाठशाला की उन्नति के लिये पूर्ण चेष्टा की। पहिले दो पाठशालायें थी उनके स्थान में चार पाठशालायें इसके अधीन करके महापाठशाला बनाई और जयपुर स्टेट के संस्कृतोपाधिपरीक्षाबोर्ड में सम्मिलित होकर सन १९२७ इ. में जयपुर स्टेट से जैनदर्शनोपाध्याय, शास्त्री आचार्य की परीक्षा जारी कराई। तथा उन परीक्षाओंका पठनक्रम उसी वर्ष से उक्त पाठशाला में चालू करादिया। पहिले २०००) वार्षिक व्यय था फिर ४०००) वार्षिक व्यय तक बढ जानेपर भी कोषकी भी वृद्धि हुई। और छात्राश्रम भी स्थापित किया। जयपुर दिगंबर जैन समाजने आप को सं. १९७० से ही मन्त्री दिगंबर जैन पाठशाला जयपुर व इसकी प्रबंधकारिणी कमेटी का मन्त्री नियत कर रखा है।

महासभा से प्रेम

१६ वर्ष की बाल्य ऊमरसेही अर्थात् सं० १९५० सेही चौरासी मथुराके मेला में आप अपने विद्यागुरु पं. भोलीलालजी के साथ जाया करते थे। वहां बडे बडे विद्वान् धर्मात्मा पुरुष आते थे वे आपकी परीक्षा लेते थे। परीक्षा लेकर

प्रसन्न हो जाते थे और योग्य पारितोषिक दिया करते थे। सं. १९५२ में भा. व. दि. जैन धर्मसंरक्षिणी महासभा स्थापित हुई। मथुरा में उस समय आप मौजूद थे। महासभा के उस समय के महारथी राजा सेठ लक्ष्मणदासजी, रा. ब. पंडित मेवारामजी खुरजा, लाला उग्रसेनजी, जंबूप्रसादजी, हुलासरायजी सहारनपुर, न्यायदिवाकर पं. पन्नालालजी, पं. प्यारेलालजी अलीगढ आदि महापुरुष आप पर बडे प्रसन्न थे। और आपकी विद्यास्फूर्त्ति, धर्मरुचि, आर्थिकवृद्धिपर शुभाशीर्वाद दिया करते थे। उसका ही फलस्वरूप आज आप में सर्व गुण पूर्णरुप में विद्यमान हैं। और आप महासभा के सच्चे प्रेमी हितैषी सभासद हैं। महासभा की शाखासभा आदिके मन्त्री भी रह चुके हैं। महासभा के अधिवेशनो में प्राय: सर्वत्र आप मौजूद रहते हैं एवं भा. व. दि. जैन खण्डेलवाल महासभा के आप पूर्ण प्रेमी हैं। और इस के अधिवेशनोंमें भी प्राय: उपस्थित हुआ करते हैं। भारत वर्षमें जंहा जंहा सभा व पाठशाला आदि संस्थाएं जातिवर्णव्यवस्थासंरक्षिणी हैं उन सब से आप की सहानुभूति है।

बिम्बप्रतिष्ठामहोत्सव प्रेम

सं० १९४७ में व्यावर में स्वर्गीय रा. ब. सेठ चंपालालजीने जब प्रतिष्ठा कराई उस समय आप की १३ वर्ष की अवस्था थी। तब आप अपने पूज्य पिताजी के साथ इस पंचकल्या-

णक प्रतिष्ठा में ब्यावर गये थे । और वहां दि. जैन पाठशाला जयपुर विद्यार्थियों की तरफसे जीवविजय व धर्मविजय नाटक हुआ । नाटक में आप अग्रसर विद्यार्थी थे । वहां बड़े २ दिग्गजविद्वान व धनिकवर्ग उपस्थित थे सब ही आप से व दि. जैन पाठशाला से प्रसन्न हुए और तभी से इस पाठशाला की प्रसिद्धि देशान्तरों में हुई । और सर्व नगरों के धनिक महानुभाव रा. ब. सेठ मूलचन्दजी अजमेर, रा. ब. सेठ चंपालालजी ब्यावर राजा सेठ लक्ष्मणदासजी मथुरा, लाला जंबूप्रसादजी, हुलास-रायजी सहारनपुर आदि श्रीमानोंने पाठशाला जयपुर को सहा-यता प्रदान करना प्रारंभ किया जिससे उक्त पाठशाला की आर्थिकस्थिति ठीक होने के साथ उस की सर्व प्रकार की उन्नति होती गई और आज महाविद्यालय बन गया है । अस्तु इसी तरह इन्दौर, देहली, आदि नगरो में होनेवाली कई प्रतिष्ठाओं में शामिल होकर आप धर्मकार्यों में सहयोग देते रहे हैं । सं० १९८१ में नांवा ८२ में ब्यावर ८३ में गया जी ८४ में शिखरजी ८५ में मोजाबाद इत्यादि अनेक स्थानों के प्रतिष्ठा-महोत्सवों में उपस्थित होकर आपने अक्षयपुण्योपार्जन किया । इसी तरह धार्मिक, सामाजिक कार्यों में सहानुभूति रखते हुए किसनगढ, सोनागिर, आग्रा, लश्कर, मुंबई, कलकत्ता, लुणिया-वास आदि कई स्थानों के धार्मिककार्यों में आपने सह-योग दिया ।

पूजन व स्वाध्याय प्रेम

आप को बाल्यकाल से नित्य जिनपूजन, व शास्त्र स्वाध्याय में असीम प्रेम है । महासभा के स्वाध्यायप्रचारविभाग के । जयपुर के प्रतिनिधि रहकर आपने स्वाध्यायका खूब प्रचार किया है । आप स्वयं शास्त्रस्वाध्याय करते पीछे प्रचार करते । १५ वर्ष अवस्था से १७ वर्ष की अवस्थातक अर्थात् सं० १९५७ तक जयपुर के बडे दीवानजी के मन्दिर की शास्त्रसभा में आप शास्त्रप्रवचन करते थे । श्री संधीजी का मन्दिर कलहकीर्तिका मन्दिर, पापल्याका मन्दिर, भोसाका मन्दिर आदि जयपुर के प्रायः सभी मन्दिरों में प्रातः काल व भाद्रपदादि पर्वो में आपका शास्त्रप्रवचन हुआ है जब सं० १९६७ में श्रीमान् पं. भोलीलालजी सेठीका स्वर्गवास हो गया तबसे उनके स्थानमें दीवानजी के छोटे मंदिरजी में रात्रि व श्री मारुजी के मन्दिरमें प्रातः काल नियमित रुपसे शास्त्रसभा का प्रवचन के लिये आपको नियुक्त किया जो कि अबतक चला आ रहा है। बाल्यकालसेही आप अष्टमी चतुर्दशी भाद्रपद अष्टाह्निकादि पर्वदिवसोंमें जिनपूजन किया करते थे । अब १५ वर्षसे तो नियमित रुपसे दीवानजी के छोटे मन्दिर में नित्य पूजन करते हैं। और जंहा भी जिनपूजामहोत्सव होता हो आप बराबर वहां उपस्थित रहते और पूजा में शामिल होते।

शुद्ध भोजन

आप ८ वर्ष की अवस्थासेही टूंटी (नल) के जलके त्यागी तथा बाजारू मिठाई आदि के त्यागी हैं । शुद्ध हाथके आटेसे बने हुए भोजन ग्रहण करते हैं । उदुंबर कन्दमूलादि और अन्यान्य अभक्ष्योंके भी आप त्यागी हैं । इस प्रकार आप शुद्ध भोजनपान करने वाले हैं ।

स्वामि भक्ति

जब सं० १९४८ में आप रा. ब. सेठ मूलचन्दजी नेमीचन्द की जयपुर दुकानपर रोकडिया (खजानची) नियुक्त हुए तबसे उक्त सेठसाहबान् व उनके उत्तराधिकारी रा. ब. सेठ टीकमचन्दजी भागचन्दजी साहब भी आपपर पूर्ण विश्वास रखते थे यहां तक कि जयपुर–दुकानकाही नहीं अपनी उपदुकान जो भारतवर्षमें हैं उनपर आप को कठिनसे कठिन कामपर भेजते थे सम्हाल कराते थे और आप भी उस काम को बडी कुशलतासे यशस्वी बनाते थे तथा अपने मालिकके सदा शुभचिंतक रहते थे । जिसके कारण आप अपने स्वामी के पूर्ण विश्वासपात्र बन गये । मुनीमों में आपका सन्मान था ! जयपुर के महाराजा व राज्याधिकारियों से ही नहीं गवर्नमेन्ट के व अन्य देशी–रियासतोंके अधिकारियोंसे भी मिलने व कार्यसंपादन के लिये सेठसाहब आप को भेजते जिससे आप की सेठजी के

घराने में प्रतिष्ठा बढ जाने के साथ साथ अफसरान् गवर्नमेन्ट, अंग्रेज अफसरान् व अन्य देशी रिसायतों के खासकर जयपुर दरबार के प्रधानमन्त्री व पदाधिकारियोंके आप विश्वस्त बन गये। राज्यके अन्यान्य अधिकारियों से मिलकर सेठसाहब का कार्यसंपादन करना आप का काम था। रेसीडेन्ट व कमिशनर राजा महाराजाओंसे मिलकर आप उक्त सेठसाहब के कठिनसे कठिन काम को भी पूर्ण कर देते। इनकारणों से सेठ साहब आपसे प्रसन्न होकर कई बार हजारों रुपयोंके पारितोषिक दिया करते थे। सेठ साहबकी हवेलीपर जयपुर दरबार का पधारना। जयपुर के दरबार में बैठक कुर्सी मिलना। लक्षावधिकी उगाई वसूल होना ये सब आप की स्वामिभक्तिका परिचायक है। सेठ साहब राजा महाराजाओंको अभिनन्दनपत्र आप के द्वाराही सुनाते थे और प्रत्येक कार्य के विचारार्थ सेठ साहब आप को अजमेर बुलाया करते थे। सन् १९२२ में जब जयपुर नरेश महाराजा माधवसिंहजी का स्वर्गवास हुआ तब वर्त्तमान दरबार के प्राईवेट हुकम खर्च के खजानची भी सेठ साहब हुए सन १९३१ तक सेठ साहब की तरफसे उक्त कार्य आपने किया और रईसकार्य चि० भूरामलने सेठ साहब की आज्ञानुसार किया। सन् १९२२ से ३१ तक प्राईवेट हुकम खर्च के खजानची के प्रतिनिधि होकर आपने राज्य के कई अंग्रेजी अफसरों के विशिष्ट परिचित बन गये। रेसिडेन्ट साहब आप से इतने प्रसन्न थे कि

आपकी कार्यदक्षता को देखकर सर्टिफिकेट प्रदान किया । इसी प्रकार इतर राजकीय शासक गणोंने भी आप को सर्टिफिकेटों से सन्मानित किया है । आप की स्वामिभक्ति आदर्श है ।

समाज मान्यता

आप लडकपनसेही बडे सुशील व विनयवान थे । प्रतिदिन पूजन स्वाध्याय शास्त्रप्रवचन करते हुए पाठशाला आदि धार्मिक संस्थाओं के संचालक रहे । जिससे जयपुर दि० जैन समाज में आप की अच्छी मान्यता है । आप की बिरादरी (जाति) अग्रवाल समाज में भी धार्मिक कार्य उत्सव महोत्सव होते हैं उन सब कार्योंमें समाज आप को अग्रसर रखती है । श्रीमती जिनागमरहस्यसभा जयपुरमें सं० १९४१ में स्थापित हुई थी स्वर्गीय पं. भोलीलालजी सेठी इस सभा के मन्त्री थे सं० १९५७ में इन के स्वर्गवास हो जाने के बाद आप ही उक्त सभा के मन्त्री हुए । उस सभा के द्वारा आप आधुनिक दूषित वातावरण को दूर करने में उद्यत हैं । उत्सव महोत्सवोंमें उस सभा के अधिवेशन हुआ करते हैं उक्त अधिवेशनोंमें मुख्यतया आप के ही भाषण रखे जाते हैं । सं० १९८७ में इस सभा का महाधिवेशन, श्री ऐलक १०५ धर्मसागरजी, व क्षुल्लक श्रुतसागरजी दाक्षिणात्यके चातुर्मासके सुअवसरपर रा. ब. सेठ टीकमचन्दजी की अध्यक्षतामें बडा शानदार हुआ । इसी अवसरपर भा. व.

दि. जैन शास्त्रिपरिषद्का अधिवेशन भी हुआ था। करीब १०००० की जनसंख्या उपस्थित हुई थी। जयपुरराज्य के प्रधानमन्त्री व अन्य सर्व शासक, वकील, जैनेतर शास्त्री आचार्य महोपाध्यायादि पदधारी विद्वानगणों की उपस्थिति इस अधिवेशनमें हुई थी। बडी प्रभावना हुई। इस के अग्रसर आप रहे। इस प्रकार जयपुर की ही नहीं समस्त भारत वर्ष की दि० जैनसमाज आपके व्याख्यानसे प्रसन्न थी। आपकी जन्मभूमि वैराठमें भी आपकी मान्यता कम नही थी। आपकी ही प्रेरणा से वैराठमें पाठशाला नित्य शास्त्रसभा व्याख्यानसभा वगैरे धार्मिक व सामाजिककार्य हुए हैं। अभी सं० १९९४ में वैराट में वेदीप्रतिष्ठा-महोत्सव जो हुआ है उस की अध्यक्षता धर्मनिष्ठ वैराठके पंच साहबानने आपको ही सौंपा था। वेदीप्रतिष्ठासमवसरणमें श्रीजीका विराजमान होना कलशारोपण वगैरे धर्मकार्य सं० १९३७ के बाद हुए नहीं थे अर्थात् ५७ वर्ष बाद यही हुए। केशरिया (ऋषभ देव) हत्याकाण्डमें समाजमान्य सेठ हुकमचन्दजी प्रभृति सर्वसमाजने उदयपुरराज्यद्वारा नियुक्त कमीशनमें पैरवी करने के लिये आपको नियुक्त किया। श्वेतांबरोंने उलटा दिगंबरजैनब्रह्मचारी चान्दमलजी उदयपुर आदि पर दोषारोपण पहिले करा दिया था। आप के २वर्षके अथक परिश्रमसे तथा ४०० साक्षी कमीशन व श्री उदयपुर महाराजाद्वारा दिगंबरोंको निर्दोषी ठहराया और अपराधी श्वेतांबरोंको-

दंडित कराया इस के उपलक्ष्यमें महासभा व समाजके मुखियाओंने आपकी भूरि २ प्रशंसा कर पत्र भेजे।

तीर्थ-यात्रा

आप बाल्यावस्थामें अपने पूज्य पिताजीके साथ श्रीगिरनारजी, सत्रंजय, तारंगाजी, ऋषभदेवजी आदि की यात्रा की। और आप स्वयं तीन बार श्री शिखरजी, चंपापुर, पावापुरजी आदि की व ऋषभदेवजी, महावीरजी, चमत्कारजी, सोनागिरजी, आबू, सिद्धवरकूट तथा पाटणा शान्तिनाथस्वामी आदि की अन्यान्य यात्रायें की हैं। अब भी वर्षमें एक सिद्धक्षेत्र या अतिशयक्षेत्र की वन्दना करलेते हैं। यात्रामें आपके साथ, धर्मपत्नी, पुत्र व पुत्रवधू माता, भ्राता आदिको भी आप लेजाया करते हैं।

गुरु-भक्ति

बचपनसेही आप त्यागी व्रती, ब्रम्हचारी, ऐलक क्षुल्लक श्रावक, श्राविकायें, व तपोनिधि निर्ग्रंथ मुनियों के परमभक्त रहे। उनके आहारदान व वैयावृत्यमें सदा उद्यत रहे। स्वर्गवासी शीलचन्द्रजी, गोविन्दरामजी, ऐलक पन्नालालजी, जानकीलालजी, बाबा दुलीचन्दजी, जयपुरके त्यागी चन्द्रलालजी वज आदिके वैयावृत्य आपने बडी भक्ति से किये। सं. १९७८ में श्री १०८ मुनि स्वर्गवासी चन्द्रसागरजी व ऐलक पन्नालालजी का व सं. १९८२ में ऐलक १०५ सुधर्मसागरजी, क्षुल्लक श्रुत-

सागरजी [दाक्षिणात्य] का व सं. १९९१ में आचार्य शान्ति-सागरजी महाराजका चातुर्मास जयपुरमें आपके अग्रेसरत्व, प्रेरणा व प्रयत्नसे ही हुआ। सं. १९९१ में श्री १०८ नमिसागरजी मुनि मेरठकी तरफसे आये जिसके स्वागत–महोत्सव रथ–यात्रा वगैरे धर्मकार्य आपकी ही प्रेरणासे हुए हैं। सं. १९९२ में श्री १०८ मुनि मल्लिसागरजी व श्री १०८ श्रुतसागरजीका चातुर्मास हुआ उस अवसर में श्री श्रुतसागरजी महाराजने अजमेर के क्षुल्लकजी को मुनिदीक्षा दी। १०००० के करीब जैन जैनेतर जनसंख्या उपस्थित थी बडी धर्मप्रभावना हुई। इस के अग्रसर आप रहे। सं० १९९३ में १०८ श्री ज्ञानसागरजी व श्रुतसागरजी महाराज का चातुर्मास जयपुर में हुआ सं. १९९४ में श्री १०८ तपोनिधि चन्द्रसागरजी महाराजका चातुर्मास हुआ अपूर्व धर्मभावना हुई इन सब धर्मकार्योंमें आप बराबर सहयोग देते रहे। इस तरह आपकी गुरुभक्ति अनुकरणीय है!

तीर्थ–भक्ति

श्री सम्मेदशिखरजीमें बंगला बनाने, केस चलाने, सोनागिरजी की सडक बनाने, आबू, दिलवाडा, जोधपुर आदि क्षेत्रों के लिये व केशरियाजी के केस वगैरे कार्योंमें व पाठशाला आदि धार्मिकसंस्थाओंके लिये आपने हजारों रुपयोंका चन्दा करा कर भिजवाये है। सहधर्मिभाईयोंसे आप सदा वात्सल्य रखते हैं। आप पूर्ण तीर्थभक्त हैं।

देव गुरु शास्त्रों की भक्ति व श्रद्धा

आपको कई बार असाधारण रोग व कष्ट आये हैं। वे सब देव गुरु शास्त्रोंकी अटल भक्ति व आपके धर्ममित्र लाधूरामजी ढ्कड जोधपुरवाले की सहायतासे दूर हुए हैं। सं० १९५३ मे आर्ष रोग व सं० १९७० में आम्लपित्तरोग हुवा उस समय उक्त धर्ममित्रकी विशेष सहायता हुई। बाल्यावस्थासे आपको आपके ज्येष्ठ भ्राता मुनीम कन्हैयालालजीने निरीक्षण व सम्हाल किया। आपके संरक्षणमें रा. ब. सेठ मूलचन्दजी, नेमीचन्दजी, टीकमचन्दजी, भागचन्दजी अजमेर वालोंने भी विशेष ध्यान रखा है।

जयपुर की पाठशाला, औषधालय, छात्राश्रम, अनाथालय वगैरे धार्मिक संस्थाओं के स्थापन में आप भी प्रेरक व कारण रहे। और उन संस्थाओंकी प्रबंधकारिणी कमेटीके आप सभासद हैं। तथा आचार्य शान्तिसागरमहाराजका स्मारक (शान्ति धर्मरक्षकमण्डल) सरसैली पूजन भजन आदि संस्थाओं में भी आपका पूर्ण सहयोग है।

धार्मिक कार्य करनेमें अपूर्व उत्साह

किसी भी धार्मिककार्यमें आप बडे उत्साहके साथ सहयोग देते रहते हैं। चोमूं (जयपुर) में एक जिनमन्दिर बनना बहुत दिनोंसे रुका हुआ था। आपने उसे परिश्रमपूर्वक

निर्माण करादिया। मोजाबाद (जयपुर) आदि कई स्थानोंके मन्दिरोंकी जीविकामें जो विघ्न आये उन सबको आपने प्रयत्न-पूर्वक राज्यकी तरफसे दूर कराया। सं० १९८५ में मोजा-बादमें पंचकल्याणक बिंबप्रतिष्ठा–महोत्सव व भा. व. दि. जैन खं. सभाके अवसरपर स्टेटकी तरफसे पुलिस व मेजिस्ट्रेट भिजवा कर फीस लेनेका हुकम वापिस कराया। जैनविवाह-पद्धतिसे विवाह होनेमें जो विघ्न होते थे उन्हें राज्य की तरफसे दूर कराया। और आप सर्वत्र जैनविवाहपद्धतिको प्रचार कर रहे हैं। सं० १९९४ मे आप की जन्मभूमि वैराठमें व लाणियावासमें मेला प्रतिष्ठा महोत्सव व महासभा के अधि-वेशनमें आपने पूर्ण परिश्रम किया है।

विद्वज्जनमान्यता.

आप भारत-वर्षीय विद्वज्जनोंके मान्य व प्रेमपात्र हैं। जब श्री १०८ आचार्य शान्तिसागरजी महाराजका संघ सं० १९८४ में दक्षिणसे श्री संमेदशिखरजीपर पधारा था उस समय वहां पंच-कल्याणप्रतिष्ठा व महासभा, शास्त्रिपरिषद् आदिके अधिवेशन हुए थे एक लक्ष जनता उपस्थित थी। अनेक प्रसिद्ध २ प्रौढविद्वान व शास्त्री उपस्थित थे। उपस्थित विद्वन्मण्डलीने आपको शास्त्री-परिषदके सभापति बनाया व आपके भाषणसे सर्व प्रसन्न हुए। और आचार्य महाराजने भी आपको शुभाशीर्वाद दिया। फिरो-

जावादमें पन्नालाल दि० जैन विद्यालयके सं. १९९२ में आप सभापति रहे। मोरेना आदि अनेक विद्यालय व पाठशालाके आप सभासद हैं। सीमारी (उदयपुर) विद्यालयके भी आप सभापति रहे हैं। जयपुरके जैनेतरविद्वान् महामहोपाध्याय पं. गिरधर शर्माजी व "भारतरत्न" पं. मधुसूदनजी व स्वामी "भारत मार्त्तण्ड" लक्ष्मीरामजी, पं. सूर्यनारायणजी आचार्य आदि भी आपसे पूर्ण प्रेम रखते हैं।

धार्मिक परिवार.

जिसप्रकार पूर्वपुण्यके उदयसे आपको धर्मनिष्ठ माता, पिता, भ्राता व मित्र मिले हैं। इसी प्रकार आपका परिवार भी धर्मनिष्ठ व आज्ञाकारी है।

[१] आपकी धर्मपत्नी सौ. कस्तूरीबाईजी भी देवगुरुशास्त्रों-की पूर्ण भक्ता हैं। जिनदर्शन पूजन प्रक्षालन आदि धर्मकार्योंमें आपको साथ देती रहती हैं और स्वयं उन कार्योंमे लगी रहती हैं। अष्टमी चतुर्दशीको एकाशन, षोडशकारण व भाद्रपदमें एकाशन बीच २ में उपवास करती हैं। रत्नत्रयविधान लब्धिविधान, सुगंधदशमी आदि व्रत किये हैं। शिखरजी, सोनागिर, केशरियाजी, गिरनार, महावीरजी, चमत्कारजी आदि तीर्थक्षेत्रोंकी यात्रायें की हैं। धर्मसेवनपूर्वक कुटुम्बका पालनपोषण करनेवाली आप एक-आदर्श गृहिणी हैं।

[२] इस धर्मपत्नीके उदरसे उत्पन्न चि० भूरामलजी भी माता पिताके समान देवगुरुशास्त्रोंका भक्त व धर्मनिष्ट हैं। आपका जन्म सं. १९६४ में हुआ है। आपका अध्ययन संस्कृत में उपाध्यायश्रेणीतक व अंग्रेजीमें मेट्रिक तक हुआ है। आप जयपुरमें सेनटरी इन्स्पेक्टर हैं। आप पिताके आज्ञाकारी व धार्मिक सामाजिक कार्योंमें अग्रसर हैं। नित्य जिनपूजन प्रक्षालन आदि करते हुए यथासाध्य पर्वदिवसोंमें व्रतोपवासादि भी आप करते रहते हैं। श्री आचार्य शान्तिसागरमहाराजपर आपकी परम श्रद्धा है। दिनपर दिन आपकी उन्नति होवें और समाजमें आप लब्धप्रतिष्ठ बनें यही हमारी हार्दिक भावना है।

[३] पं. भूरालालजीकी धर्मपत्नी सौ० फूलाबाई भी बडी धर्मनिष्ठा है। आप हिन्दी पढी लिखी है। स्वयं सदा स्वाध्याय करती हैं श्रुतपंचमी सुगंधदशमी आदि व्रत किये हैं। तथा पर्वदिनोंमें यथासाध्य उपवास एकाशनादि करती रहती हैं। आप के पिता श्री ईश्वरलालजी टिकसाली बडे धर्मात्मा व पंडित थे। उनका स्वर्गवास सं० १९७७ में हुआ। उनके स्वर्गवास होनेके बाद उनकी धर्मपत्नी आपकी माताने वैधव्य दीक्षा धारण की है। सोने चान्दिके व इतर आभरणों का त्याग किया। व्रत पूजादि कार्यमेंही अपना जीवन व्यतीत कर रही हैं। उनके सुपुत्र आपके भ्राता श्री गोवर्धनलालजी टिकसाली भी धर्मनिष्ठ व्यक्ति हैं। वे सोनेचान्दीकी सराफी करते हैं। सौ०

फूलाबाईके उदरसे चि० रतनलाल नामका एक पुत्ररत्न उत्पन्न हुआ है ।

[४] इस ग्रंथ के अनुवादक उक्त पंडित नानूलालजी शास्त्री-का पौत्र चि० रतनलाल एक सुशील और होनहार बालक है । चि० रतनलाल की इस समय १२ वर्ष की अवस्था है । इसी छोटी अवस्थामें संस्कृतमें प्रवेशिका परीक्षा उत्तीर्ण कर उपाध्याय श्रेणीमें पढरहा है अंग्रेजीमें भी मिडिलक्लासकी पढाई हो रही है। हम भावना करते हैं कि आगे उक्त बालक भी योग्य धर्मनिष्ठ बनकर समाजमें शास्त्रीजीके नामको दुहरायेगा ।

इसतरह उक्त शास्त्रीजीका परिवार व मित्रमण्डली भी उनकी तरह धर्मनिष्ठ तथा समाजप्रसिद्ध है । यह उनका संक्षिप्त परिचय हमने धर्मप्रेमसे ही लिखा है । अन्तमें हम भगवानसे प्रार्थना करते हैं कि इस ग्रंथके अनुवादक उक्त शास्त्रीजीमहोदय इसीतरह धर्मकार्योंमें सहयोग देते हुए समाजमें लब्ध-प्रतिष्ठ बनेरहें । शुभं भूयात् ॥

परिचायक विनीत.
पं० सीमन्धरलाल सेठी,
जयपुर.

॥ श्री वीतरागाय नमः ॥

श्री १०८ मुनिराजकुंथुसागरविरचित

निजात्मशुद्धिभावना.

श्रीयुत पं. नानूलालजी शास्त्री, जयपुरनिवासीकृत-
भाषाटीकासहित.

स्वराज्यकर्त्रे शिवसौख्यभर्त्रे ।
स्वातंत्र्यदात्रे परतंत्रहर्त्रे ॥
वीराय भव्याम्बुजभास्कराय ।
सत्सौख्यसिध्यै हि नमस्करोमि ॥ १ ॥

अर्थः—जो महावीरस्वामी स्वराज्य अर्थात् मोक्षराज्य के कर्ता हैं, मोक्षसुख के स्वामी हैं, स्वतंत्रता अर्थात् आत्माकी स्वतंत्रता को देनेवाले हैं, कर्मजनित परतंत्रता को दूर करनेवाले हैं और भव्यजीवरूपी कमलों को प्रफुल्लित करने के लिये जो सूर्य के समान हैं ऐसे अंतिम तीर्थंकर श्री महावीरस्वामीको उत्तम सुखकी प्राप्ति के लिये मैं नमस्कार करता हूं ॥ १ ॥

मिथ्यात्वमार्गस्य विनाशनार्थं ।
यथार्थमार्गस्य प्रवृत्तिहेतोः ॥
स्वानन्द सिध्यै स्वपरार्थशान्त्यै ।
समाधिसिध्यैपरिणामशुध्यै ॥ २ ॥

आबालवृद्धस्य सुखार्थमत्र ।
निजात्मशुद्धेर्वरभावनेयम् ॥
श्रीकुंथुनाम्ना मुनिनाल्पबुध्या ।
स्वर्मोक्षदात्री खलु कथ्यते हि ॥ ३ ॥

अर्थ—मिथ्यात्वमार्ग को नाश करने के लिये, यथार्थ मोक्ष मार्ग की प्रवृत्ति करने के लिये, अपने आत्मा को आनन्द प्राप्त करने के लिये, अपने आत्मा को तथा अन्य समस्त जीवों को शांति प्राप्त करने के लिये, अपने हृदय में समाधि प्राप्त करने के लिये, परिणामों की शुद्धि के लिये और बालक वा वृद्ध आदि समस्त जीवों को सुख प्राप्त करने के लिये श्री मुनिराज कुंथुसागर स्वामी अपनी अल्पबुद्धि के अनुसार अपने आत्माको शुद्ध करने वाली और स्वर्ग मोक्षको देनेवाली ऐसी श्रेष्ठभावना का स्वरूप कहते हैं ॥ २ ॥ ३ ॥

यः कर्मशत्रून् हि विजित्य दुष्टान् ।
सुज्ञातवान् सर्वपदार्थधर्मम् ॥
मोक्षस्य मार्गं निरपेक्षबुध्या ।
मोक्षार्थिभव्याय किलोक्तवांश्च ॥ ४ ॥
स एव वीरो हि हरिर्हरश्च ।
ब्रह्मा च विष्णुश्च जिनश्च बुद्धः ॥
स्वर्मोक्षदातुर्भवरोगहर्तु ।
र्गच्छन्तु भव्याः शरणं हि तस्य ॥ ५ ॥

अर्थः—जिन श्रीमहावीरस्वामीने अत्यंत दुष्ट ऐसे कर्मरूपी शत्रुओं को जीतकर समस्त पदार्थों के स्वरूप को जान लिया है और मोक्ष की इच्छा करनेवाले भव्य जीवों के लिये जिन्होंने निरपेक्ष बुद्धि से मोक्ष मार्ग का निरूपण किया है वा उपदेश दिया है। ऐसे श्री महावीर स्वामी ही विष्णु है वे ही महादेव हैं वे ही ब्रह्मा हैं वे ही हरि वा कृष्ण हैं और वे ही बुद्ध हैं। इस के सिवाय वे ही भगवान् स्वर्ग मोक्ष के देनेवाले हैं और संसाररूपी रोग को हरण करनेवाले हैं। हे भव्य जीवो ! तुम लोग भी ऐसे ही महावीरस्वामी की शरण लो, उन्हीं की शरण में जाओ ॥ ४ ॥ ५ ॥

शंकाभयादेः कलहादिकस्य ।
चतुर्गतेर्मार्गनिरोधकं हि ॥
स्वर्मोक्षमार्गप्रतिपादकं च ।
यथार्थतत्त्वस्य निरूपकं यत् ॥ ६ ॥
तदेव शास्त्रं पठितुं सुयोग्यं ।
श्रोतुं सदा पाठयितुं परांश्च ॥
विरोधहीनं परमार्थभूतं ।
स्वराज्यदं स्वात्मसुबोधकं यत् ॥ ७ ॥

अर्थः—जो शास्त्र शंका भय वा कलह आदि के मार्ग को रोकनेवाला है, चारों गतियों के मार्ग को रोकनेवाला है जो स्वर्ग और मोक्ष के मार्ग को प्रतिपादन करनेवाला है, तत्त्वोंके यथार्थ स्वरूप को निरूपण करने वाला है जो पूर्वापर विरोध रहित है, परमार्थभूत है, अपने आत्मरूप स्वराज्य को देनेवाला है और अपने आत्माका ज्ञान प्रकट करनेवाला है, वही शास्त्र पढने योग्य है सुनने योग्य है और दूसरों को पढाने योग्य है ॥ ६–७ ॥

वांच्छा न चित्ते विषयेषु यस्य ।
निजात्मधर्मे च सदैव तृप्तः ॥

अतीवदक्षः स्वपरोपकार्ये ।
तत्त्वप्रचारेऽपि यथार्थमार्गे ॥ ८ ॥
इच्छानिरोधं सुखशान्तिमूलं ।
कुर्वंस्तपो यः स्वपदे स्थितोऽस्ति ॥
स एव साधुः सकलस्य दुःखं ।
हरत्यचिन्त्यं हृदि चिन्तनीयः ॥ ९ ॥
समागमस्तस्य भवेद्धि साधो ।
ध्यानं जपो वा मननं सुसेवा ॥
आचारमार्गे खलु तादृशस्य ।
भवेत्प्रवृत्तिः सततं जनस्य ॥ १० ॥

अर्थः—जिन साधु के हृदय में पंचेन्द्रियों के विषयों की इच्छा सर्वथा नहीं है, जो अपने आत्मा के धर्म में सदा तृप्त रहते हैं, जो अपने आत्माका तथा परजीवोंका उपकार वा कल्याण करने में अत्यंत चतुर हैं जो यथार्थ तत्त्वोंके प्रचार करने में वा यथार्थ मोक्षमार्ग में अत्यंत चतुर हैं जो सुख और शान्तिका मूल कारण ऐसे इच्छा निरोध रूप तपश्चरण को करते हुए अपने शुद्ध आत्मा में लीन रहते हैं ऐसे साधु समस्त जीवोंके अचिंत्य दुःखों

को भी दूर कर देते हैं। ऐसे साधुओं को अपने हृदय में सदा चिन्तवन करते रहना चाहिये। भव्य जीवों को ऐसे साधुओं का सदा समागम होता रहे, ऐसे साधुओं का सदा ध्यान वा जप होता रहे, ऐसे साधुओं का मनन होता रहे, उन की सेवा होती रहे और ऐसे ही साधुओं के आचार मार्ग में सदा प्रवृत्ति बनी रहे ॥ ९-१० ॥

जीवान्न वै कानपि पीडयामि ।
वदाम्यसत्यं च कदापि नाहम् ॥
गृह्णामि भार्यां न धनं परस्य ।
पिबामि सन्तोषसुधां सुमिष्टाम् ॥ ११ ॥

अर्थः—मेरा यह निश्चय है कि मैं किसी जीव को दुःख नहीं दूंगा, न कभी असत्य भाषण करूंगा और न कभी दूसरे की स्त्री वा धन को ग्रहण करूंगा। मैं तो सदा अत्यंत मिष्ट ऐसे संतोष रूपी अमृत को ही पीता रहूंगा ॥ ११ ॥

बुध्यादिवृद्धान् वरधार्मिकान् हि ।
तुष्यामि दृष्ट्वा जननीव पुत्रम् ॥
प्राणेष्वहं सत्सु गतेषु नैव ।
क्षुभ्यामि कुप्यामि कदापि लोके ॥ १२ ॥

अर्थः—जिस प्रकार माता पुत्र को देख कर प्रसन्न होती है उसी प्रकार मैं सम्यग्ज्ञान आदि श्रेष्ठ गुणोंसे वृद्ध ऐसे श्रेष्ठ धार्मिक पुरुषोंको देखकर प्रसन्न और संतुष्ट हो ऊंगा। मैं अपने प्राण जानेपर भी कभी क्षोभ को प्राप्त नहीं होऊंगा और न इस लोक में प्राण जानेपर भी कभी क्रोध करूंगा ॥ १२ ॥

भवेद्धि चैवं मम शुद्धबुद्धिः।
शास्त्रानुकूलः परिणामवेगः ॥
निजात्मध्याने च भवामि लीनः।
स्वराज्यहेतोरिति चिन्तयामि ॥ १३ ॥

अर्थः—ऊपर लिखे अनुसार मेरी बुद्धि सदा शुद्ध बनी रहे, मेरे परिणामों की प्रवृत्ति सदा शास्त्रानुकूल बनी रहे और मैं अपने आत्माके ध्यान में सदा लीन बना रहूं, इस प्रकार अपने आत्मरूप स्वराज्य वा मोक्ष की प्राप्ति के लिये मैं सदा चिन्तवन करता रहूं ॥ १३ ॥

त्यक्त्वा प्रमादं स्वपरार्थशान्त्यै।
यत्नं यथाशक्ति करोमि नित्यम् ॥
मैत्र्यादिबुध्या सह सर्वजीवै।
र्वर्ते च कोपादिविनाशहेतोः ॥ १४ ॥

अर्थः—मैं अपने प्रमाद छोडकर अपने आत्माको शान्ति प्राप्त करने के लिये अपनी शक्ति के अनुसार सदा प्रयत्न करता रहूं और क्रोधादिक कषायों को नाश करने के लिये मैं समस्त जीवों के साथ मित्रताका बर्ताव करूं वा उन को देखकर प्रसन्न होऊं ॥ १४ ॥

दीनान् दरिद्रान् पतितांश्च जीवान् ।
दृष्ट्वा ममात्मा हि भवेद्दयार्द्रः ॥
उद्धारहेतोश्च करोमि यत्नं ।
सुखाय तेषां हितचिन्तनं वा ॥ १५ ॥

अर्थः—दीन दरिद्री और पतित जीवों को देखकर मेरे आत्मामें सदा दया उत्पन्न होती रहे, उन के उद्धार के लिये मैं सदा प्रयत्न करता रहूं और उन के सुख के लिये उन के हितका सदा चिंतवन करता रहूं ॥ १५ ॥

कुमार्गमूढान् विपरीतजीवान् ।
दृष्ट्वा ममात्मा न कदापि कुप्येत् ॥
संतोषतोयं पिवताद्धि नित्यं ।
नेतुं सुमार्गे च यतेत तान् वा ॥ १६ ॥

अर्थः—जो कुमार्ग में चलने वाले अज्ञानी तथा धर्म से विपरीत चलने वाले जीव हैं उन को भी देखकर मेरे

आत्मा में कभी क्रोध उत्पन्न न हो और संतोष रूपी जल को सदा पीता रहे अथवा उनको सुमार्ग में लाने के लिये सदा प्रयत्न करता रहे ॥ १६ ॥

सन्तोषमंत्रं जपतो गुणाढ्यान् ।
पूज्यांश्च दृष्ट्वा बहुहर्षयुक्तः ॥
भवेद्धि तृप्तो मम चांतरात्मा ।
तेषां सुसेवां विनयं च कृत्वा ॥ १७ ॥

अर्थः––जो गुणी और पूज्य पुरुष संतोषरूपी मंत्रका जप करते रहते हैं उन को देखकर मेरा अन्तरात्मा सदा हर्ष वा प्रमोद धारण करता रहे तथा उन की सेवा और विनय कर के अत्यंत तृप्त होता रहे ॥ १७ ॥

भवेद्गुणग्राह्यमतिर्ममात्मा ।
ह्यंधश्च मंदो हि परस्य दोषे ॥
स्वप्नेपि भूयादकृतज्ञभावो ।
द्वेषो न लोभो हृदि मे कुबुद्धिः ॥ १८ ॥

अर्थः—यह मेरा आत्मा अपनी बुद्धि में सदा गुणों को ग्रहण करता रहे तथा दूसरोंके दोष देखने में अंधा और मंद बना रहे तथा मेरे हृदय में स्वप्न में भी अकृतज्ञता के भाव न हो, न द्वेष हो न लोभ हो और न कभी

कुबुद्धि हो ॥ १८ ॥

ये केऽपि निन्दन्ति च मां स्तुवन्ति ।
न तेषु द्वेषो न भवेद्धि हर्षः ॥
ज्ञानामृतं मे पिबतान्निजात्मा ।
लाभो न हानिः स्तुतिनिंदयोर्मे ॥ १९ ॥

अर्थः—यदि कोई पुरुष मेरी निंदा करें तो उन से मेरा यह आत्मा कभी द्वेष न करे और यदि कोई मेरी स्तुति करें तो उस में भी मेरा आत्मा हर्षित न हो। यह मेरा आत्मा सदा ज्ञानरूपी अमृत का पान करता रहे। क्योंकि स्तुति करने में मेरा कोई लाभ नहीं है और निंदा करने में मेरी कोई हानि नहीं है ॥ १९ ॥

वर्द्धंत लक्ष्मी भुवि मे क्षयेद्वा ।
कुटुम्बवर्गोऽपि भवेत्तथैव ॥
तथापि चित्ते सुखशान्तिराज्यं ।
सदैव भूयात्परमार्थबुद्धिः ॥ २० ॥

अर्थः—इस लोक में मेरी लक्ष्मी बढ जाय वा नष्ट होजाय। इसी प्रकार कुटुम्बवर्ग भी बढ जाय या नष्ट हो जाय। तथापि मेरे हृदय में सदा सुख शांति का राज्य

बना रहे और मेरी बुद्धि सदा परमार्थरूप बनी रहे वा परमार्थ में लगी रहे ॥ २० ॥

चिन्ता न मृत्योर्न च जीवनस्य ।
साम्राज्यलक्ष्म्याश्चपलप्रकृत्याः ॥
भवेद्धि मृत्युः समयानुसारो ।
न चिन्तया मे भुवि चान्यथैव ॥ २१ ॥

अर्थः—मुझे न तो मृत्युकी चिंता है न जीवन की चिन्ता है और न स्वभावसे ही चंचल ऐसी साम्राज्यलक्ष्मी की चिन्ता है, मेरी मृत्यु समयपर हो अथवा असमय में ही हो मुझे इस संसार में इस की कोई चिन्ता नहीं है ॥ २१ ॥

ये केपि मह्यं हरियक्षमर्त्या ।
दुःखं हि दद्युर्यदि वा तथापि ॥
स्वराज्यसौख्यात्स्वपदात्स्वभावात् ।
चलामि नाऽहं निजधर्ममार्गात् ॥ २२ ॥

अर्थः—कोई इन्द्र वा यक्ष वा कोई मनुष्य चाहे मुझे कितना ही दुःख देवें तथापि मैं अपने आत्मजन्य स्वराज्य के सुखसे वा आत्माके शुध्दस्वरूप से अथवा अपने आत्मा के रत्नत्रयरूप स्वभाव से अथवा अपने धर्म मार्ग से कभी चलाय-मान नहीं होऊंगा ॥ २२ ॥

अक्षादिसौख्ये च विनाशभूते ।
तुष्येन्न कुप्येन्मम किन्तु चात्मा ॥
निजात्मसौख्यं न भवेद्धि याव ।
द्वर्तेत नित्यं समशान्तभावैः ॥ २३ ॥

अर्थः—यह मेरा आत्मा अवश्य नाश होनेवाले इन्द्रियों के सुखों में न कभी संतुष्ट होवे और न कभी क्रोधित होवे किंतु जबतक अपना आत्मजन्य सुख प्राप्त नहीं होता तबतक यह मेरा आत्मा समतापरिणामरूप वा शान्तपरिणामरूप प्रवृत्ति करता रहे ॥ २३ ॥

वापीनदीभ्यो गिरिकंदरेभ्यो ।
व्याघ्रादिसिंहैरहिभीमजन्तोः ॥
कदापि चात्मा विभियान्न मे हि ।
सर्वत्र गच्छेन्निजराज्यहेतोः ॥ २४ ॥

अर्थः—यह मेरा आत्मा बावडियोंसे, नदियोंसे, पर्वतों से, गुफाओंसे, सिंहोंसे, व्याघ्रोंसे और सर्पादिक भयानक जीवोंसे भी कभी भयभीत न हो किंतु अपने शुद्ध आत्मरूप राज्यकी प्राप्ति के लिये सर्वत्र गमन करता रहे ॥ २४ ॥

निजात्मधर्मे स्वपदे स्वसौख्ये ।
स्वात्मा भवेन्मे ह्यचलश्च तृप्तः ॥

निष्कम्पशांतश्चतुरश्चतुष्टः ।
स्तत्रैव पुष्टश्च सुखी च गुप्तः ॥ २५ ॥

अर्थः—यह मेरा आत्मा अपने आत्मधर्म में वा अपने शुद्ध आत्मा में अथवा अपने आत्मजन्यसुख में सदा अचल बना रहे, तृप्त बना रहे, चलायमान रहित शान्त बना रहे, चतुर बना रहे, संतुष्ट बना रहे, उन्हीं में पुष्ट बना रहे, उन्हीं में सुखी बना रहे, और उन्हीं में सुरक्षित बना रहे ॥ २५ ॥

प्रियाऽप्रियं वस्तु विलोक्य तुष्ये
त्कुप्येन्ममात्मा न कदापि नूनम् ॥
स्वकर्मणां तीव्रशुभाशुभानां ।
क्षयोदयाभ्यां प्रतिभासते मे ॥ २६ ॥

अर्थः—यह मेरा आत्मा प्रिय वस्तु को देखकर कभी भी संतुष्ट न हो तथा अप्रिय वस्तु को देखकर कभी क्रोध न करे किंतु यही विचार करता रहे कि प्रिय पदार्थ अपने तीव्र शुभ कर्मों के उदयसे तथा अशुभ कर्मों के क्षय से प्राप्त होते हैं और अप्रिय पदार्थ अपने शुभ कर्मों के क्षय से और तीव्र अशुभ कर्मों के उदय से प्राप्त होते हैं अथवा तीव्र शुभ अशुभ कर्मों के क्षय वा उदय से ये सब

प्रिय वा अप्रिय प्रतीत होते हैं ॥ २६ ॥

सर्वेऽपि जीवा इह जीवलोके ।
सदा भवेयुः सुखिनः सधर्माः ॥
स्वात्मानुभूतेः स्वरसं पिबंतु ।
मुंचंतु शीघ्रं कुटिलं विचारम् ॥ २७ ॥

अर्थः—इस संसारमें सभी जीव सुखी हों, सभी धर्मात्मा हों, सभी जीव अपनी आत्मानुभूति से उत्पन्न हुए आत्मरस का पान करते रहें और सभी जीव अपने कुटिल विचारों का त्याग कर दें ॥ २७ ॥

विरोधवैरं च मिथोऽभिमानं ।
स्वार्थादिबुद्धिं च विहाय शीघ्रम् ॥
श्रीमांश्च धीमांश्चतुरोऽपि शास्त्री ।
भवेत्सदा जैनमतावलम्बी ॥ २८ ॥

अर्थः—इस संसार के समस्त श्रीमान् बुद्धिमान् चतुर और शास्त्री लोग अपने परस्पर के वैर विरोध को छोडकर तथा परस्पर के अभिमान को छोडकर और अपना स्वार्थ रूप बुद्धि को शीघ्र ही छोडकर सदा जैनधर्म को सेवन करते रहें ॥ २८ ॥

कुत्राऽऽगतोहं गमनीयमस्ति कुतः ।
सदा किं करणीयमस्ति ॥
एवं स्वशान्त्यै च विचारणीयं ।
संसारवृत्तान्तविदा नरेण ॥ २९ ॥

अर्थः—संसार के स्वरूप को जानने वाले मनुष्यों को अपने आत्मा में शान्ति प्राप्त करने के लिये सदा यह विचार करते रहना चाहिये कि मैं कहां से कहां तो आया हूं और मुझे कहां से कहां जाना है और इस के लिये मुझे क्या क्या काम करना है ॥ २९ ॥

कालं च लब्ध्वा हि निगोदवासा ।
दत्रागतोस्म्यात्मतनोश्च धर्मम् ॥
ज्ञात्वेति मुक्त्वा तनुराज्यलक्ष्मी ।
मोक्षं हि गन्तुं विषयं न भोक्तुम् ॥ ३० ॥

अर्थः—मैं काल लब्धि को पाकर निगोद के निवास से यहां मनुष्य लोक में आया हूं । यहां मुझे उचित है कि मैं अपने आत्मा और शरीर का स्वभाव जानकर शरीर और राज्यलक्ष्मी का त्याग करूं तथा मोक्ष में जाने के लिये प्रयत्न करूं । यहां आकर मुझे विषय भोगों के लिये कभी प्रयत्न नहीं करना चाहिये ॥ ३० ॥

मिथ्याभिमानं मलिनं विचार।
माशापिशाचं च विहाय शीघ्रम् ॥
धर्मप्रचारं स्वगतेर्विचारं।
भव्याश्च कुर्युः स्वपरोपकारम् ॥ ३१ ॥

अर्थः—इस संसार में भव्य जीवों को अपना मिथ्या अभिमान मलिनविचार और आशारूपी पिशाच को शीघ्र ही छोडकर धर्म का प्रचार करना चाहिये, अपनी गति का विचार करना चाहिये और सदा परोपकार करते रहना चाहिये तथा अपने आत्मा का उपकार वा कल्याण करते रहना चाहिये ॥ ३१ ॥

स्वात्मानुभूत्या निजराज्यधर्मं।
पूतात्मवासे सुखशांतिपूरे ॥
क्रीडन्तु तिष्ठन्तु सदैव भव्या।
मिष्टातिमिष्टं स्वरसं पिबन्तु ॥ ३२ ॥

अर्थः—यह अपने आत्मा का निवास सुख और शान्तिसे भरा हुआ है और अपने आत्मरूपी राज्य के धर्म से सुशोभित है ऐसे अपने आत्मा के निवासस्थान में भव्य जीवों को अपने आत्माकी अनुभूति के द्वारा सदा क्रीडा करते रहना चाहिये, वहीं पर ठहरना चाहिये,

और वहीं ठहरकर मीटेसे मीठे ऐसे अपने आत्मासे उत्पन्न हुआ रस पीते रहना चाहिये ॥ ३२ ॥

ईतिर्विभीतिर्विषकंटकादि-
दुःखप्रदो नश्यतु तीव्रमोहः ।
भवेद्धि वृष्टिः समयानुकूला,
नन्दन्तु जीवन्तु सुखेन जीवाः ॥३३॥

अर्थ—इस संसारमें ईति, भीति, विष, कंटक, आदि सब नष्ट हो जाय. अत्यंत दुःख देनेवाला तीव्रमोह नष्ट हो जाय, पानीकी वर्षा समयानुसार होती रहे और समस्त जीव सुखपूर्वक जीवित रहें, बढते रहे और आनंदित होते रहें ॥ ३३ ॥

शीघ्राऽतिशीघ्रं च कुभेदबुद्धिं,
प्रजेत्यसौ मे तनयोऽस्ति मुक्त्वा ।
राजा प्रजां रक्षतु धर्मबुध्या,
निजात्मवद्वा जननीव पुत्रम् ॥३४॥
प्रजा हि शीर्षे नृपतेस्तथाज्ञां,
दध्याद्धि मन्येत च देवतुल्यम् ।

स्वप्नेऽपि तस्याऽविनयं न कुर्या-
त्सुधर्ममूर्तेः खलु दीनबंधोः ॥ ३५ ॥

अर्थ—राजा लोगोंको उचित है कि वे लोग शीघ्रसे शीघ्र कुभेद बुद्धिको अपने हृदयसे निकाल डालें " यह मेरी प्रजा है इसलिये मेरे पुत्रके समान है " इस धर्मबुद्धिसे प्रजाकी रक्षा करें। अथवा अपने आत्माके समान प्रजाकी रक्षा करें, अथवा जिस प्रकार माता पुत्रकी रक्षा करती है उसी प्रकार प्रजाकी रक्षा करें। प्रजाको भी उचित है कि वह राजाकी आज्ञा को अपने मस्तक पर धारण करें। और राजा को देवके समान मानें और स्वप्नमें भी राजाका अविनय न करें। क्यों कि राजा धर्म की मूर्ति कहलाता है और दीनबंधु कहलाता है ॥ ३४–३५ ॥

अकालमृत्युर्नच कोऽपि रोगो,
भवेन्न केषामपि दुष्टबुद्धिः।
दुष्टग्रहाणां न भवेत्प्रकोपो,
जीवन्तु जीवाः स्वसुखेन नित्यम् ॥३६॥

अर्थ—इस संसारमें किसी की भी अकालमृत्यु न हो, कोई रोग न हो, किसी की दुष्टबुद्धि न हो, दुष्ट

ग्रहोंका कभी प्रकोप न हो और समस्तजीव सदा अपने आत्मजन्यसुखसे जीवन व्यतीत करें ॥ ३६ ॥

धर्मोऽस्त्यहिंसैव यथार्थबंधु-
र्मातापिता पालनपोषणत्वात् ।
वैद्यो वरो रोगविनाशकत्वाद्,
वंद्यो गुरुर्वा शिवदर्शकत्वात् ॥ ३७ ॥

स्वर्मोक्षदाता भवदुःखहर्ता,
षट्खण्डराज्यं धनरत्नपूर्णम् ।
दातुं समर्थोऽप्ययमेव धर्मः,
स एव तिष्ठेत्सकलेऽपि जीवे ॥ ३८ ॥

अर्थ—इस संसारमें अहिंसारूपधर्म ही जीवोंका यथार्थबंधु है, यह धर्म ही सबजीवोंका पालनपोषण करता है, इसलिये वही धर्म सबका माता पिता है, इसके सिवाय यही धर्म समस्त रोगोंको दूर करनेवाला है। इसलिये यही धर्म उत्तम वैद्य है। तथा यही धर्म मोक्षको दिखलाने वाला है इसलिये यही धर्म वंदना करने योग्य गुरु है। यही धर्म स्वर्गमोक्षका देनेवाला है, संसारके समस्त दुःखोंका नाश करनेवाला है, और धन वा रत्नोंसे भरे हुए छहों खण्डके राज्यको देनेके लिये यही धर्म समर्थ है,

ऐसा यह धर्म समस्त भव्यजीवों के हृदय में विराजमान हो। अर्थात् समस्त भव्यजीव इस पवित्रधर्म का धारण करें ॥ ३७-३८ ॥

ब्रूयाद्वचः स्नेहकरं मिथस्त-
न्नभ्रान्तिदं क्लेशकरं वदेद्धि ॥
शास्त्रानुकूलं च हितं हि सत्यं,
पथ्यं सदा द्वेषविनाशकं च ॥३९॥

अर्थः—भव्यजीवों को सदा परस्पर स्नेह उत्पन्न करनेवाले वचन बोलने चाहिये। शास्त्रानुकूल, हित करने वाले और सत्यवचन बोलने चाहिये तथा पथ्य वा आत्मा का हित करने वाले और द्वेष को नाश करने वाले वचन बोलने चाहिये। भ्रांति और क्लेश उत्पन्न करने वाले वचन कभी नहीं कहने चाहिये॥ ३९ ॥

तत्त्वस्य रूपस्य सदा विचारं,
कुर्यात्सुशान्तेः स्वसुखस्य चर्चाम् ।
मोक्षो हि यावन्न भवेत्प्रयत्ना-
देवं सदा चिन्तयतां हि भव्यः ॥ ४० ॥

अर्थः—ये भव्यजीव जबतक प्रयत्नपूर्वक मोक्षकी प्राप्ति न कर लें तबतक उन को सदा तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप

का सदा विचार करते रहना चाहिये। तथा आत्मा की शान्ति और आत्मसुखकी चर्चा सदा करते रहना चाहिये। इस प्रकार भव्यजीवों को सदा चिन्तवन करते रहना चाहिये ॥ ४० ॥

क्रोधी न मानी कुटिलो न लोभी,
त्यागी न भोगी कृपणो न दानी।
विद्वान्न मूर्खो न धनी दरिद्री,
चिन्मात्रमूर्तिः स्वरसेऽस्मि तृप्तः ॥४१॥

अर्थ—मैं न क्रोधी हूं, न मानी हूं, न मायाचारी हूं, न लोभी हूं, न दानी हूं, न विद्वान हूं, न मूर्ख हूं, न धनी हूं, और न दरिद्री हूं। किंतु मैं चैतन्यमात्रमूर्ति हूं और अपने आत्मरस में सदा तृप्त रहनेवाला हूं ॥४१॥

न ब्राह्मणः क्षत्रिय एव नाऽहं,
वैश्यो न शूद्रोऽप्यकुलः कुलीनः।
प्रजा न राजा न नरो न नारी,
चिन्मात्रमूर्तिः स्वरसेऽस्मि तृप्तः ॥ ४२ ॥

अर्थ—भव्य जीवोंको चिंतवन करना चाहिये कि मैं न ब्राह्मण हूं, न क्षत्रिय हूं, न वैश्य हूं, न शूद्र हूं, न नीचकुल का हूं, न ऊंचे कुल का हूं, न प्रजा हूं, न राजा

हूं, न स्त्री हूं और न पुरुष हूं। किंतु मैं चैतन्यमात्रमूर्ति हूं और अपने आत्मरसमें सदा तृप्त रहता हूं॥ ४२॥

देवो न देवी न गुरुर्न शिष्यो,
राज्ञी न दासी चतुरो न मूर्खः।
द्वेषी न रागी न च हीनदीन-
श्चिन्मात्रमूर्तिः स्वरसेऽस्मि तृप्तः॥ ४३॥

अर्थ—मैं न देव हूं, न देवी हूं, न गुरु हूं, न शिष्य हूं, न रानी हूं, न दासी हूं, न चतुर हूं, न मूर्ख हूं, न द्वेष करनेवाला हूं, न राग करनेवाला हूं, और न दीन हूं, किंतु मैं चैतन्यमात्रमूर्ति हूं, और अपने आत्मजन्य रसमें तृप्त हूं॥ ४३॥

रोगी निरोगी न च धीरवीरो
बालो न वृद्धो न कुटुम्बवर्गी।
छेदी न भेदी न सुखी न दुःखी,
चिन्मात्रमूर्तिः स्वरसेऽस्मि तृप्तः॥ ४४॥

अर्थ-मैं न रोगी हूं, न निरोगी हूं, न धीरवीर हूं, न बालक हूं, न वृद्ध हूं, न कुटुंबको धारण करनेवाला हूं, न छेदन करनेवाला हूं, न भेदन करनेवाला हूं, न

सुखी हूं और न दुःखी हूं। किंतु मैं चैतन्यमात्रमूर्ति हूं और अपने आत्मरसमें तृप्त हूं ॥ ४४ ॥

बंधो न मोक्षो न विधिर्निषेधः,
कर्ता ह्यकर्ताप्यथवा न भोक्ता ।
स्वामी न भृत्यश्च कदापि नाऽहं,
चिन्मात्रमूर्तिः स्वरसेऽस्मि तृप्तः ॥४५॥

अर्थ—मैं न बंधरूप हूं, न मोक्षरूप हूं न विधिरूप हूं न निषेध रूप हूं न कर्ता हूं न अकर्ता हूं, न भोक्ता हूं न अभोक्ता हूं न स्वामी हूं और न कभी दास हूं किंतु मैं चैतन्यमात्रमूर्ति हूं और अपने आत्मासे उत्पन्न हुए रसमें ही तृप्त हूं ॥ ४५ ॥

कृष्णो न शुक्लो नच वर्णवर्णी,
धर्मोऽप्यधर्मो न नभो न कालः ।
जीवोऽप्यजीवो न च पुद्गलोऽपि ॥
चिन्मात्रमूर्तिः स्वरसेऽस्मि तृप्तः ॥४६॥

अर्थ—मैं न कृष्णवर्ण हूं, न शुक्लवर्ण हूं, न अन्य वर्णको धारण करनेवाला पुद्गल हूं, न धर्मद्रव्य हूं, न अधर्म द्रव्य हूं, न आकाश द्रव्य हूं, न कालद्रव्य हूं, न जीव हूं

न अजीव हूं, और न पुद्गल हूं, किंतु मैं चैतन्यमात्र मूर्ति हूं और अपने आत्मरस में ही सदा तृप्त हूं ॥ ४६ ॥

शुद्धोऽप्यशुद्धो न च योगयोगी,
बुद्धोऽप्यबुद्धो न भवो न भावी।
सिद्धोऽप्यसिद्धो न करी न कारी॥
चिन्मात्रमूर्तिः स्वरसेऽस्मि तृप्तः ॥४७॥

अर्थ—मैं न शुद्ध हूं न अशुद्ध हूं, न योगको धारण करनेवाला योगी हूं, न बुद्ध वा ज्ञानी हूं, न अबुद्ध अज्ञानी हूं, न संसारी हूं न क्षयोपशमादिक भावोंको धारण करनेवाला हूं, न सिद्ध हूं, न असिद्ध हूं, न करनेवाला हूं, और न करानेवाला हूं। किंतु मैं चैतन्यमात्रमूर्ति हूं, और अपने आत्मरस में तृप्त हूं ॥४७॥

स्थूलो न सूक्ष्मो परमो न चाऽल्पो,
व्याधिर्न चाधिर्न सखा न शत्रुः।
पिता न माता भगिनी न भार्या॥
चिन्मात्रमूर्तिः स्वरसेऽस्मि तृप्तः ॥४८॥

अर्थ—मैं न स्थूल हूं, न सूक्ष्म हूं, न बड़ा हूं, न छोटा हूं, न बाह्यव्याधिरूप हूं, न अंतरंग आधिरूप हूं, मैं न मित्र हूं, न शत्रु हूं, न पिता हूं न माता हूं, न बहिन हूं,

और न स्त्री हूं, किंतु मैं चैतन्यमात्र मूर्ति हूं और अपने आत्मरसमें तृप्त हूं ॥ ४८ ॥

शक्तोऽप्यशक्तो न कृती न कार्यं,
व्यक्तो न गुप्तो न गतिः स्थितिश्च ।
भीरुर्न कारुर्न मतिर्न मौनी,
चिन्मात्रमूर्तिः स्वरसेऽस्मि तृप्तः ॥४९॥

अर्थ—मैं न समर्थ हूं, न असमर्थ हूं, न कर्ता हूं, न कार्य हूं, न व्यक्त वा प्रगटरूप हूं, न गुप्त वा छिपा हुआ हूं, न गमनरूप हूं, न स्थिर हूं, न भीरु वा डरपोक हूं, न कारु वा शूद्र रूप हूं, न मौनी हूं, और न मतिरूप वा जाग्रतरूप हूं, किंतु मैं चैतन्यमात्र मूर्ति हूं, और अपने आत्मजन्य रस में तृप्त हूं, ॥ ४९ ॥

रसो न राशिः पुरुषो न षंडो,
मूर्तिर्ह्यमूर्तिर्न दमी क्षमी न ।
गृही न साधुर्न दिनं न रात्रि-
श्चिन्मात्रमूर्तिः स्वरसेऽस्मि तृप्तः ॥ ५० ॥

अर्थः—मैं न रसरूप हूं, न राशिरूप हूं, न अमूर्त हूं, न इन्द्रियों को दमन करने वाला हूं, न क्षमा धारण करने वाला हूं, न गृहस्थ हूं, न साधु हूं, न दिनरूप वा

प्रकाशरूप हूं, और न रात्रिरूप वा अंधकारमय हूं, किंतु मैं चैतन्यमात्रमूर्ति हूं, और अपने आत्मरस में तृप्त हूं ॥५०॥

मूढो न गूढो न कविः कपिर्न,
मोही न मुग्धो न बली कलिर्न ।
ईतिर्न भीतिर्न कृतिर्धृतिश्च,
चिन्मात्रमूर्तिः स्वरसेऽस्मि तृप्तः ॥५१॥

अर्थः—मैं न मूर्ख हूं, न गूढ हूं, न कवि हूं, न कपि वा बंदर हूं, न मोह करने वाला हूं, न मुग्ध वा अज्ञानी हूं, न बलवान हूं, न कलियुग रूप वा मायाचारी हूं, न ईति वा दुःखरूप हूं, न भयरूप हूं, न कृति वा कार्यरूप हूं, और न धृति वा धैर्य रूप हूं, ।किंतु मैं चैतन्यमात्रमूर्ति हूं, और अपने आत्मरस में तृप्त हूं । ॥ ५१ ॥

शस्त्री न शास्त्री न शशी न सूर्यः
प्रीतिर्न कीर्तिर्न पुरी न पौरः ।
भग्नो न नग्नो न चलोऽचलोपि,
चिन्मात्रमूर्तिः स्वरसेऽस्मि तृप्तः ॥५२॥

अर्थः-मैं न शस्त्रों को धारण करने वाला हूं, न शास्त्रों का जानकार शास्त्री हूं । मैं न चंद्रमा हूं, न सूर्य हूं, न प्रेमरूप हूं, न कीर्तिरूप हूं, न नगररूप हूं, न नगरनिवासी हूं, मैं न

मग्न हूं, न नग्न हूं, न चल हूं, न अचल हूं, किंतु मैं चैतन्यमात्र मूर्ति हूं, और अपने आत्मरस में तृप्त हूं ॥५२॥

ब्रह्मा न विष्णुर्न महेश्वरोऽपि,
न वर्द्धमानो न हि बुद्धदेवः ।
नैवाऽस्मि संकल्पविकल्परूप-
श्चिन्मात्रमूर्तिः स्वरसेऽस्मि तृप्तः ॥ ५३ ॥

अर्थ—मैं न ब्रह्मा हूं, न विष्णु हूं, न महादेव हूं, न वर्द्धमान हूं, न बुद्ध हूं, और मैं न संकल्पविकल्परूप हूं, किंतु मैं चैतन्यमात्र मूर्ति हूं और अपने आत्मरस में ही सदा तृप्त रहने वाला हूं ॥ ५३ ॥

भक्तिर्न भक्तो ह्यरती रतिर्न
भूमिर्न भूतिर्न कुलं न गोत्रम् ।
श्रुतिर्न वृत्तिः प्रकृतिः प्रजा न,
चिन्मात्रमूर्तिः स्वरसेऽस्मि तृप्तः ॥ ५४ ॥

अर्थ—मैं न भक्तिरूप हूं, न भक्त हूं, न अरतिरूप हूं, न रतिरूप हूं, न भूमिरूप हूं, न विभूतिरूप हूं, न कुलरूप हूं, न गोत्ररूप हूं, न शास्त्ररूप हूं, न वृत्तिरूप हूं, न प्रकृतिरूप हूं, और न प्रजारूप हूं। मैं तो चैतन्य

मात्रमूर्ति हूं और अपने आत्मरसमें सदा तृप्त रहनेवाला हूं ॥ ५४ ॥

ध्याता न ध्येयं न चिता न चिन्ता,
नादिर्न मध्यं खलु नैव चान्तः ।
सदा ममात्मा परमार्थदृष्ट्या,
सुचिन्तयेदेवमतिप्रयत्नात् ॥ ५५ ॥

अर्थ—मैं न ध्यान करनेवाला हूं, न ध्यान करने योग्य ध्येय पदार्थ हूं। मैं न चितारूप हूं, न चिन्तामय हूं मैं न आदिरूप हूं, न मध्य हूं, न अन्तरूप हूं । इस प्रकार मेरा यह आत्मा परमार्थदृष्टिसे प्रयत्न पूर्वक सदा चिन्तवन करें यही मेरी भावना है ॥ ५५ ॥

स्वात्मानुभूत्या सुखशान्तिदात्र्या,
विना भवाब्धौ विषमे च दुःखे ।
व्यत्यायि कालोऽमित एव जीवै,
श्रीकुंथुनाम्ना मुनिना तथा हि ॥ ५६ ॥

अर्थ—इन संसारी जीवोंने सुख और शांतिको देनेवाली इस स्वात्मानुभूति के विना विषम और दुःखमय इस संसाररूपी समुद्र में अनंतकाल व्यतीत किया है और इसी प्रकार इस ग्रंथ के कर्ता श्री कुंथुसागर मुनि

कहते हैं कि मैंने भी इसी प्रकार विना स्वानुभूति के इस संसार में अनंतकाल व्यतीत किया है ॥ ५६ ॥

हे वीर हे देव कृपानिधे हे,
कृपाप्रसादात्तव सर्वजीवाः ।
स्वात्मानुभूतिं हि जवेन लब्ध्वा,
गच्छन्तु मोक्षं च ममापि चात्मा ॥५७॥

अर्थः—हे वीरभगवन् हे देवाधिदेव ! हे कृपासिंधो ! आपकी कृपा के प्रसाद से समस्त भव्यजीव अपने आत्मा की अनुभूति को पाकर शीघ्र ही मोक्षको प्राप्त करें और यह मेरा आत्मा भी अपनी स्वानुभूति को पाकर शीघ्र ही मोक्ष को प्राप्त करें ॥ ५७ ॥

छन्दो ह्यलंकारकलादिकं न,
साहित्यशास्त्रं सुनयप्रमाणम् ।
नीत्यादिकं व्याकरणं न काव्यं,
नाऽहं विजनामि विशेषशास्त्रम् ॥ ५८ ॥
वै केवलं स्वात्मरसार्थमेव,
स्वशान्तये स्वात्मनि बोधनार्थम् ।

स्वातंत्र्यदात्री परतंत्रहर्त्री,
व्याध्यादिहर्त्री सुखशान्तिदात्री ॥ ५९ ॥
निजात्मशुद्धेर्वरभावनेयं,
स्वर्मोक्षदात्री भवरोगहर्त्री ।
श्रीकुंथुनाम्ना मुनिना प्रणीता,
मोक्षार्थिभिश्चेतासि चिन्तनीया ॥ ६० ॥

अर्थः—मैं न छंदशास्त्र को जानता हूं, न अलंकार शास्त्र जानता हूं, न कलाकौशल जानता हूं, न साहित्यशास्त्र जानता हूं, न नय और प्रमाणों का स्वरूप जानता हूं, न नीतिशास्त्र जानता हूं, न व्याकरण जानता हूं, न काव्य जानता हूं, और न मैं विशेष शास्त्रों को जानता हूं, किंतु केवल अपने आत्मरस की प्राप्तिके लिये अपने आत्मा में शान्ति पहुंचाने के लिये और अपने आत्मा में आत्म ज्ञान प्राप्त करने के लिये यह अपने आत्मा को शुद्ध करने वाली श्रेष्ठ भावना कही है। ये भावनाएं आत्माकी मोक्ष रूप स्वतंत्रता को देनेवाली है, कर्मबंधन से होनेवाली आत्माकी परतंत्रता को हरण करने वाली है, आधि व्याधि आदि समस्त रोगों को हरण करने वाली है, सुख और शांति को देने वाली है, संसाररूपी रोग को नाश

करने वाली हैं, और स्वर्ग मोक्ष को देनेवाली है। ये भावनाएं मुनिराज श्रीकुंथुसागरजी की बनाई हुई हैं, इस लिये मोक्षकी इच्छा करने वाले भव्यजीवों को अपने हृदय में इन भावनाओं का सदा चिंतवन करते रहना चाहिये ॥ ५८–५९–६० ॥

इन्द्रादिवंद्यस्य च शांतिसिंधो-
र्दीक्षागुरोर्धीरदयानिधेश्च ।
अज्ञानहर्तुर्वरशिक्षकस्य,
सुधर्मसिंधोः कृपया दयाब्धेः ॥६१॥

मोक्षं गते महावीरे स्वर्मोक्षसुखदायके ।
चतुर्विंशतिसंख्याते सद्विषष्ट्यधिके शते ॥६२॥
फाल्गुने शुक्लपक्षे च तृतीयायां शुभे दिने ।
तारंगासिद्धमेदिन्यां स्थित्वा स्वानन्दहेतवे ॥६३॥
इष्टार्थदायिनी चेयं श्रीस्वात्मशुद्धिभावना ।
रचिता स्वात्मनिष्ठेन कुन्थुसागरयोगिना ॥ ६४ ॥

अर्थः—इन्द्रादिक देवों के द्वारा वंदनीय धीर वीर और दया के सागर ऐसे मेरे दीक्षागुरु श्रीआचार्य शांतिसागरजीकी कृपा से तथा अज्ञान को हरण करने वाले

और दया के सागर ऐसे मेरे विद्यागुरु श्रीसुधर्मसागर जी की कृपा से वीरनिर्वाण सम्वत् २४६२ चौवीस सौ बासठ के फाल्गुन मास के शुक्ल पक्ष की तृतीया के शुभ दिन में आत्मा में तल्लीन-श्रीकुंथुसागर मुनिने श्रीतारंगाजी सिद्धभूमि में रहकर आत्मानन्द के लिये इष्टार्थ को देनेवाली श्रेष्ठ ऐसी यह आत्मशुद्धि भावना रची है ॥६१-६२-६३-६४ ॥

॥ इति निजात्मशुद्धिभावना समाप्ता ॥

—=*=—

॥ श्री वीतरागाय नमः ॥

मुनिराजश्रीकुंथुसागरविरचितः

मोक्षमार्गप्रदीपः

जयपुरनिवासी पं. नानूलालजी शास्त्री वैराठीकृत

भाषाटीकासहित

चत्वारिंशद्गुणैः षड्भिर्युक्तैर्नित्यं विभूषितम् ।
अरिहन्तं कृपासिंधुं, वाञ्छितार्थप्रदं स्तुवे ॥१॥

अर्थः—जो अरहंतपरमेष्ठी छयालीस गुणों से सदा सुशोभित रहते हैं, जो कृपा के सागर हैं, और इच्छानुसार फल देने वाले हैं, ऐसे भगवान अरहंतदेवकी मैं स्तुति करता हूं ॥ १ ॥

अष्टकर्मविनिर्मुक्तं, युक्तमष्टगुणैः सदा ।
नित्यं निरुपमं शुद्धं, सिद्धं नौमि सुसौख्यदम् ॥२॥

अर्थः—जो सिद्धपरमेष्ठी ज्ञानावरणादिक आठों कर्मों से रहित हैं, तथा इन आठ कर्मों के नाश होने से उत्पन्न हुए अविनाशी अनन्तज्ञानादिक आठ गुणों से सुशोभित हैं, जो उपमारहित हैं, नित्य हैं, शुद्ध हैं, और अपने आत्मजन्य अनंतसुख को देनेवाले हैं, ऐसे सिद्ध परमेष्ठी को मैं नमस्कार करता हूं ॥ २ ॥

षड्त्रिंशत्सुगुणैः पूतमाचार्यं शान्तिदायकम् ।
चिदानन्दं क्षमासिंधुं दीक्षाशिक्षाप्रदं भजे ॥३॥

अर्थः—जो आचार्य बारह प्रकारका तप, पांच आचार, तीन गुप्ति, छह आवश्यक और दशधर्म इन छत्तीस गुणों से पवित्र हैं, सब को शान्ति देनेवाले हैं, जो चैतन्यमय शुद्ध आत्मा में लीन रहते हैं, और इसी लिये आनंद स्वरूप रहते हैं, अर्थात् संकल्प विकल्प, राग द्वेष, चिन्ता आतुरता, आदि दुःखों के कारणों से सदा रहित रहते हैं, जो क्षमा के सागर हैं, और जो भव्य जीवों को जैनेश्वरी दीक्षा वा शिक्षा देनेवाले हैं, ऐसे आचार्यपरमेष्ठी को मैं नमस्कार करता हूं ॥ ३ ॥

अविद्याध्वंसकं पूतं, पाठकं स्वान्यबोधकम् ।
विंशतिप्रमितैर्युक्तं, गुणैः पंचाधिकैर्भजे ॥ ४ ॥

अर्थः—जो उपाध्यायपरमेष्ठी अज्ञान का सर्वथा नाश करनेवाले हैं, अपने आत्मा को तथा अन्य भव्य जीवों को ज्ञान उत्पन्न कराने वाले हैं, और ग्यारह अंग चौदह पूर्व को जानने रूप पच्चीस गुणों को धारण करने वाले हैं, ऐसे उपाध्यायपरमेष्ठी की मैं पूजा करता हूं ॥ ४ ॥

स्वाध्यायध्यानसंलग्नमष्टाविंशतिभिर्गुणैः ।
युक्तं साधुवरं नौमि, स्वात्मरक्तं तपोधनम् ॥५॥

अर्थः—जो साधुपरमेष्ठी स्वाध्याय और ध्यान में सदा लीन रहते हैं, अपने आत्मा में सदा लीन रहते हैं, जो तपश्चरण को ही अपना धन समझते हैं, और जो पांच महाव्रत पांच समिति, पांचों इन्द्रियों का निग्रह, छह आवश्यक, केशलोंच, नग्नता, भूशयन, स्नानत्याग, दंतधावन त्याग, एकबार भोजन, और खडे होकर भोजन, इन अट्ठाईस मूलगुणों से सुशोभित हैं. ऐसे साधुपरमेष्ठी को मैं नमस्कार करता हूं ॥ ५ ॥

जगद्वंद्यानहं पंच, परमेष्ठिमहोदयान् ।
अभिवंद्य मुदा तेषां वर्णये गुणकीर्तनम् ॥६॥

अर्थः—इस प्रकार मैं तीनों लोकों के द्वारा वंदनीय

ऐसे पांचो परमेष्ठियों को नमस्कार करके उन्हीं पांच परमेष्ठियों के गुणोंका वर्णन मैं करता हूं ॥ ६ ॥

श्री अरहंत देव के छयालीस गुणों का वर्णन

विश्वबंधोर्दयासिंधोर्भव्यभानोर्जगत्पतेः ।
अर्हतः प्रथमं वक्ष्ये, जन्मतोऽतिशयान् दश ॥७॥

अर्थः—जो अरहंत परमेष्ठी जगत के बंधु हैं, दया के सागर हैं, भव्यजीवरूपी कमलों को प्रफुल्लित करने के लिये जो सूर्य के समान हैं और जो तीनों लोकों के स्वामी हैं ऐसे अरहंत परमेष्ठी के सब से पहले जन्म के दश अतिशयों का निरूपण करूंगा ॥ ७ ॥

अर्हतः सुन्दरं शान्तं, नृसुरासुरपूजितम् ।
त्रैलोक्यभूषणं दिव्यं, वपुर्जातं मनोहरम् ॥ ८ ॥

अर्थः—भगवान अरहंत देव का शरीर जन्म से ही अत्यंत मनोहर होता है, मनुष्य सुर असुर सब के द्वारा पूज्य होता है, तीनों लोकों में आभूषण स्वरूप होता है, दिव्य स्वरूप और अत्यंत शान्त होता है, इसप्रकार वह तीनों लोकों में सब से अधिक सुन्दर होता है। [यह जन्म का पहला अतिशय है ॥ ८ ॥

दिव्यैः सुगन्धिमद्द्रव्यैः, शुद्धैर्निरुपमैस्तथा ।
निर्मितं पुण्यसारं हि, प्रभो रोगहरं वपुः ॥ ९ ॥

समस्त रोगों को दूर करनेवाला और समस्त पुण्य का सारभूत भगवान का शरीर समस्त उपमाओं से रहित शुद्ध और अत्यंत दिव्य ऐसे सुगंधित द्रव्यों से बना हुआ है, अर्थात् उन का शरीर अत्यंत सुगन्धमय है। यह दूसरा अतिशय है ॥ ९ ॥

शुद्धं स्फटिकसंकाशं, स्वेदमुक्तं निरामयम् ।
भव्यवृन्दमनोहारि, श्लाघ्यं पूतं वपुः प्रभोः ॥१०॥

अर्थः—स्फटिक के समान अत्यंत शुद्ध और समस्त रोगों से रहित ऐसा भगवान का शरीर सदा पसीना से रहित होता है अर्थात् उस पर पसीना कभी नहीं आता। इसी लिये वह भव्यजीवों को मनोहर जान पडता है, अत्यंत प्रशंसनीय हो जाता है और पवित्र माना जाता है। यह भगवानका तीसरा अतिशय है ॥ १० ॥

मलमूत्रैः सदा मुक्तं, सुंदरं चन्द्रवद्रुचि ।
पुण्यपुंजं वपुर्जातं, पापहर्तुः सुखप्रदम् ॥११॥

अर्थ—समस्त पापों को हरण करने वाले भगवानका शरीर चन्द्रमाके समान आनंद देने वाला है, अत्यंत सुंदर है, पुण्यका पिंड है, और सबको सुख देने वाला है, तथा

ऐसा होकर भी वह शरीर पवित्र है मलमूत्र का रहितपना भगवान का चौथा अतिशय है ॥ ११ ॥

हितं मितं प्रियं सत्यं, वैरहर्तृ सुशान्तिदम्।
क्लेशापहारि सुखदं, जायते हि वचः प्रभोः ॥१२॥

अर्थः—उन भगवान के वचन सब का हित करने वाले, आवश्यकतानुसार थोडे, प्रिय, सत्य, वैर विरोध को हरण करने वाले, श्रेष्ठ शान्ति को देनेवाले, समस्त क्लेशों को दूर करने वाले और सब को सुख देने वाले ही सदा निकलते हैं, यह उन का पांचवां अतिशय है ॥१२॥

अजेयं कामदं गाढं, समर्थं कर्मभंजने।
निरातंकं बलं जातं, व्याध्यादिरहितं प्रभोः ॥१३॥

अर्थः—भगवान के शरीर का बल किसी से जीता नहीं जा सकता, इच्छानुसार फल देने वाला, उत्तम सहनन को धारण करनेवाला,, कर्मों को नाश करने में समर्थ, समस्त बाधाओं से रहित तथा आधि, व्याधि-रोग-शोक आदि सब से रहित होता है। यह अतुलबल नाम का छठा अतिशय है ॥ १३ ॥

यस्यांगे रुधिरं शुद्धं, शुभ्रं स्वच्छं हि दुग्धवत्।
पुण्यमूर्तेः सदा दीप्तं, स्तुत्यं श्रेष्ठं मनोहरम् ॥१४॥

अर्थः—पुण्यकी मूर्ति को धारण करनेवाले भगवान के शरीर में जो रुधिर रहता है वह दूध के समान निर्मल और श्वेत होता है, शुद्ध होता है, सदा देदीप्यमान, स्तुति करने योग्य, श्रेष्ठ और मनोहर होता है। यह भगवान का सातवां अतिशय है ॥ १४ ॥

अष्टभिः साधिकेनापि, सहस्रेण युतं प्रभोः ।
लक्षणेन सदा पूज्यं, सुखदं कामदं वपुः ॥१५॥

अर्थः—उन भगवान का शरीर समचतुरस्र नाम के पहले संस्थान से सुशोभित होता है और इसीलिये वह तीनों लोकों को मोहित करनेवाला, तीनों लोकों का आभूषणस्वरूप और सर्वांगसुंदर होता है यह भगवान का नौवां अतिशय है ॥ १५ ॥

तद्वज्रर्षभनाराच–संहननं जगत्प्रभोः ।
कर्मारिभेदने प्रौढं, नितान्तं वीर्यसूचकम् ॥१६॥

तीनों लोकों के स्वामी भगवान का शरीर वज्र ऋषभ नाराच नाम के सर्वोत्कृष्ट पहले संहनन से सुशोभित होता है और इसीलिये वह कर्मरूप शत्रुओं को नाश करने में समर्थ होता है और अतुलवीर्य का सूचक होता है। यह भगवान का दशवां अतिशय है ॥ १६ ॥

एवं सुपुण्यपाकेन, लब्धा आनन्ददायकाः ।
जन्मतो दश पूज्यस्य प्रभोरतिशयाः स्मृताः ॥१७॥

अर्थः—जगत्पूज्य भगवान अरहंतदेव के अत्यंत पुण्य से प्राप्त हुए और सब को आनन्द देनेवाले ऊपर लिखे अनुसार जन्म के दश अतिशय कहलाते हैं ॥१७॥

केवलज्ञान के दश अतिशय

जगद्वंद्यार्हतो नूनं, पूर्वपुण्यस्य सूचकाः ।
दश केवलबोधस्य, वर्ण्यन्तेऽतिशयाः स्फुटम् ॥१८॥

अर्थः—जगद्वंद्य भगवान अरहंतदेवको केवलज्ञान प्रगट होने के समय उन के पहले के पुण्य को सूचित करनेवाले दश अतिशय प्रगट होते हैं आगे उन्हीं केवल ज्ञान के दश अतिशय कहे जाते हैं ॥ १८ ॥

शतयोजनदेशेऽभूत्, सुभिक्षं जनशर्मदम् ।
वाञ्छितार्थप्रदं पूर्व-पुण्योपार्जनसूचकम् ॥ १९ ॥

अर्थः—जहांपर भगवान विराजमान होते हैं, उस देश में सौ योजन तक इच्छानुसार फलों को देनेवाला, समस्त सुखों को देनेवाला, और पहले भव के पुण्योपार्जन को सूचित करने वाला, सुभिक्ष बना रहता है जिस से वहां की सब प्रजा सुखी रहती है । यह केवलज्ञान का पहला अतिशय है ॥ १९ ॥

नरामरेन्द्रभारं भूः, सोढुं शक्ता यतो नहि ।
कथं मेऽनन्तवीर्यस्य सहेतेति चचाल खे ॥२०॥

अर्थः—यह पृथ्वी मनुष्य, देव, और इन्द्रों के भार को सहन करने में पहले से ही असमर्थ है फिर भला अनंतवीर्य को धारण करनेवाले मेरा बोझ कैसे सहन कर सकती है यही समझकर मानों वे भगवान आकाशमें ही गमन करते हैं। यह भगवान का केवलज्ञानजन्य दूसरा अतिशय है ॥ २० ॥

घातिकर्मप्रणाशाद्यः, प्राप्तानन्तचतुष्टयः ।
श्रीमते चतुरास्याय, तस्मै भगवते नमः ॥ २१ ॥

अर्थः-घातिया कर्मों के नाश होने से जिन को अनन्त चतुष्टय प्राप्त होगया है और जो अंतरंग बहिरंग लक्ष्मी को धारण करनेवाले हैं तथा इन्हीं सब कारणों से जिन के चार मुख प्रगट होगये हैं ऐसे भगवान अरहंत देवको मैं नमस्कार करता हूं। भावार्थ घातिया कर्मों के नाश होने से भगवानका एक मुख भी चारों ओर दिखाई देता है। वे पूर्व दिशाकी ओर मुह कर के विराजमान होते हैं परंतु जैसे पूर्व दिशावालों को दिखाई पडते हैं, वैसे ही दक्षिण पश्चिम उत्तर दिशा वालों को दिखाई पडते हैं, यह उन का केवलज्ञानजन्य तीसरा अतिशय है ॥ २१ ॥

दयाब्धेस्तव सांनिध्यं, प्राप्ता जीवास्त्यजन्ति वै।
परस्परं दृढं वैरं हिंसां च स्वस्वभावजाम् ॥२२॥

अर्थः—भगवान अरहंत परमेष्ठी दया के सागर हैं इसलिये उन के निकट जाकर समस्त जीव अपना परस्पर का दृढ वैर भी छोड देते हैं और अपने स्वभाव से उत्पन्न हुई हिंसा को भी छोड देते हैं। भावार्थः—समवसरण में कुत्ता बिल्ली आदि जन्मसे विरोध को धारण करने वाले जीव भी हिंसा का त्याग कर देते हैं। यह केवल ज्ञान का चौथा अतिशय है ॥ २२ ॥

रोगाः केऽप्युपसर्गाश्च, न जायन्ते जगत्प्रभोः।
प्रसादेन दयासिंधोः सुखशान्तिर्भवेद्भुवि ॥२३॥

अर्थः—अरहंतदेव दया के सागर हैं, और तीनों लोकों के स्वामी हैं, इसलिये वे जहां पर विराजमान होते हैं, वहांपर कोई रोग नहीं होते, और कोई उपसर्ग नहीं होते, भगवानके प्रसाद से उस भूमिपर सुख और शान्ति ही बनी रहती है। यह केवलज्ञान का पांचवां अतिशय है ॥ २३॥

असातवेदनीयं हि समूलं नाशितं त्वया।
ततो भुक्तिर्न ते स्वामिन् स्वसुखामृतभोजिनः॥

अर्थः—हे प्रभो ! आप आत्मजन्य सुखरूपी अमृत का भोजन करनेवाले हैं, तथा आपने असातावेदनीय कर्म को जड से ही नाश कर दिया है, इसीलिये हे स्वामिन् आप कभी कवलाहार ग्रहण नहीं करते हैं।

भावार्थः-भगवान् अरहंत देव के कवलाहार नहीं है, उन का शरीर तो प्रतिसमय में आनेवाली नो कर्म वर्गणाओं से ही टिका रहता है। यह केवलज्ञान का छठा अतिशय है ॥ २४ ॥

ज्ञानावरणनिर्णाशाद्दर्शनावरणक्षयात् ।
सर्वविद्येश्वरत्वंहि प्राप्ताय प्रभवे नमः ॥ २५ ॥

अर्थः—जो भगवान अरहंतदेव ज्ञानावरण कर्म के नाश होने से तथा दर्शनावरण कर्म के नाश होने से समस्त विद्याओं के ईश्वर पद को प्राप्त हुए हैं, ऐसे अरहंत देवको मैं नमस्कार करता हूं।

भावार्थः-अरहंत देवको समस्त विद्याओंका ईश्वरपना प्राप्त हो जाता है, यह उन का केवलज्ञानजन्य सातवां अतिशय है ॥ २६ ॥

वपुर्मलक्षयादेव न वृद्धिर्नखकेशयोः ।
तस्मै नमो भगवते नखकेशविनाशिने ॥२६॥

अर्थः—भगवान का शरीर परमौदारिक होता है, इसलिये उन के शरीर के मल सब नष्ट हो जाते हैं, और इसीलिये उन के केशों की वृद्धि नहीं होती। इसप्रकार जो नखकेश की वृद्धिका नाश करनेवाले भगवान अरहंत देव हैं उन को मैं नमस्कार करता हूं।

भावार्थः—केवलज्ञान के बाद भगवान के नखकेश नहीं बढते। यह भगवान का केवलज्ञानजन्य आठवां अतिशय है॥ २६॥

मोहकर्मक्षयात्तस्य निष्पंदो नहि नेत्रयोः।
जीवन्नेवाभवद्देवस्तस्मै भगवते नमः॥ २७॥

अर्थः—मोहनीय कर्म का सर्वथा नाश हो जाने से भगवान अरहंतदेव के दोनों नेत्रों के पलक नही गिरते अर्थात् उन के नेत्रों में परिस्पंदन नहीं होता। वे भगवान जीवन अवस्थामें ही देवपद को प्राप्त हो जाते हैं, अतएव ऐसे भगवान अरहंतदेवको मैं नमस्कार करता हूं। नेत्रोंका परिस्पंदन न होना केवलज्ञान का नौवां अतिशय है॥२७॥

अछायत्वगुणः प्राप्तः परमौदारिके तनौ।
यस्य तं परमात्मानमर्हन्तं च सदा स्तुवे॥२८॥

अर्थः—जिन भगवान के परमौदारिकशरीर में अछायत्व वा छाया न पडने का गुण प्राप्त हुआ है उन अरहंतभगवान परमात्माकी मैं स्तुति करता हूं।

भावार्थः—भगवान के शरीरकी छाया नहीं पडती । यह केवलज्ञानका दशवां अतिशय है ॥ २८ ॥

घातिकर्मक्षयादेव लोकालोकप्रकाशिनः ।
केवलज्ञानसंप्राप्तौ दश चातिशयाः स्मृताः ॥२९॥

अर्थः—लोक अलोक को प्रकाशित करनेवाले भगवान अरहंतदेव के घातिया कर्मों के नाश होने से जब केवल ज्ञानकी प्राप्ति होती है उस समय उनके ऊपर लिखे अनुसार दश अतिशय प्राप्त होते हैं ॥ २९ ॥

देवकृत चौदह अतिशय

केवलज्ञानसंप्राप्तौ भवन्त्यतिशयाः प्रभोः ।
चतुर्दशप्रमाणास्तु वर्ण्यन्ते निर्जरैः कृताः ॥३०॥

अर्थः—भगवान अरहंतदेवके केवलज्ञान प्रगट होने पर देवों के द्वारा किये गये चौदह अतिशय प्रगट होते है, आगे वे ही बतलाये हैं ॥ ३० ॥

योजनद्वादशे क्षेत्रे प्रभोर्विस्तारिताः सुरैः ।
सर्वभाषामयी वाणी मिथ्यात्वज्वरनाशिनी ॥३१॥

अर्थः—देवलोग मिथ्यात्वरूपी ज्वरको नाश करने वाली भगवान अरहंत देवकी समस्त भाषाओंरूप परिणत होनेवाली वाणी को बारह योजन प्रमाण क्षेत्र तक फैलाते

रहते हैं। समवसरणकी रचना बारह योजन में होती है, वहांतक भगवानकी वाणी सुनने में आजाती है। यह अर्द्ध मागधी भाषा का होना पहिला अतिशय है ॥ ३१ ॥

त्वत्सान्निध्यान्मृगाः सर्वे वैरं जहति जन्मनः।
पुत्रबुध्या स्पृशद्व्याघ्री मृगं व्याघ्रं मृगी तथा

अर्थः—हे प्रभो! आपकी समीपता पा कर समस्त जीव अपना जन्मका वैर भी छोड देते हैं, व्याघ्री अपना पुत्र समझकर हरिणको स्पर्श करती है और हरिणी अपना पुत्र समझकर व्याघ्रको स्पर्श करती है। यह समस्त जीवों में परस्पर मित्रताका होना दूसरा अतिशय है ॥ ३२ ॥

त्वज्जन्मनः प्रभावाद्धि त्रैलोक्ये सुखिनोऽभवन।
प्राणिनो नारकाद्या वै इति जाता दिशोऽमलाः॥

अर्थः—हे प्रभो! आप के जन्म के प्रभाव से उस समय तीनों लोकों के जीव सुखी होगये थे यहां तक कि नरक के नारकी भी उस समय सुखी होगये थे यही समझकर मानों केवलज्ञान के होते ही सब दिशाएं निर्मल हो जाती हैं। यह दिशाओं का निर्मल होना देवकृत तीसरा अतिशय है ॥ ३३ ॥

प्रभौ तिष्ठति नाज्ञानं तिष्ठेदत्र क दुर्दिनम्।
दूरतो विरजो जातं निरभ्रं निर्मलं नभः ॥३४॥

अर्थः—भगवान अरहंत देवके रहते हुए अज्ञान कभी नही ठहर सकता फिर भला उस स्थानपर दुर्दिन [मेघों से घिरा हुआ आकाश] कैसे रह सकता है यही समझकर मानो वहांका आकाश विना धूलिके और विना बादलों के निर्मल होगया था। यह आकाश का निर्मल होना चौथा अतिशय है ॥ ३४ ॥

तरवस्त्वत्प्रभावाद्धि सर्वर्तुफलपुष्पदाः ।
सुन्दराः सुप्रिया जाताः सर्वमंगलकारकाः ॥३५॥

अर्थः—हे प्रभो आप के प्रभाव से वहां के वृक्ष सब ऋतुओं के फलपुष्प देनेवाले होगये थे तथा सुंदर अत्यंत प्रिय और सब तरह के मंगल करनेवाले होगये थे। सब ऋतुओं के फल फूल वा धान्यादिक का एक ही साथ फूलना फलना देवकृत पांचवां अतिशय है ॥३५॥

एकयोजनमाला तु ह्यासीद् रत्नमयी मही ।
दिव्या स्फटिकवच्छुद्धा त्वत्प्रसादान्मनोहरा ॥

अर्थः—हे प्रभो आप के प्रसाद से समवसरणकी एक योजन पृथ्वी रत्नमयी होगई थी तथा दिव्य स्फटिक के समान शुद्ध और अत्यंत मनोहर होगई थी। एक योजनतक की पृथ्वी का दर्पण के समान निर्मल होना देवकृत छठा अतिशय है ॥ ३६ ॥

त्वत्पादयोर्हि सांनिध्यात्प्राप्तं हेममयं वपुः ।
ज्ञात्वाऽचिन्त्यं फलं भक्तेस्तले तिष्ठति नीरजम् ॥

अर्थः—हे प्रभो आप के चरण कमलोंकी निकटता से कमलों का शरीर भी सुवर्णमय होगया था यह देख कर कमलोंने भी अपनी भक्ति का अचिंत्य फल देखा और फिर वे आप के चरण कमलों के नीचे ही रहने लगे। गमन करते समय भगवानके चरणोंके नीचे देव सुवर्णमय कमलों की रचना करते हैं। यह भगवानका देवकृत सातवां अतिशय है॥ २७ ॥

सर्वे जयध्वानिं देवाः कुर्वन्ति गगनांगणे ।
शांतिदं श्रीप्रभुं सर्वे नमंत्विति कृतेरणाः ॥३८॥

अर्थः—समवसरण के ऊपर आकाशरूपी आंगन में सब देव 'भगवन् जय जय' इसप्रकार जय जय शब्द किया करते हैं। उस समय वे देव ऐसे मालूम पडते हैं मानों हे भव्यजीवों ! भगवान अरहंत देव ही शांतिके देने वाले हैं इसलिये तुम सब लोग इन्हीं को आकर नमस्कार करो इसप्रकार की प्रेरणा सब जीवों को कर रहे हों। आकाश में जय जय शब्दों का होना भगवानका देवकृत आठवां अतिशय है ॥ ३८ ॥

त्वत्प्रसक्तेः सुगंधानां पूरो भाति सुगंधिदः ।
पवनश्चावहत्सिंधोरिव भंगो मनोहरः ॥ ३९ ॥

अर्थः—हे प्रभो आपकी निकटतासे सुगंधिके पूरके समान सुगंधिको देनेवाला अत्यंत मनोहर पवन चलता है वह पवन ऐसा जान पडता है मानों सुगंधित और मनोहर समुद्रकी लहर ही हों। यह मंद सुगंध पवन का चलना नौवां अतिशय है ॥ ३९ ॥

इन्द्रस्यानुज्ञया दैवैः कृतानन्दविधायिनी ।
गंधोदकमयी वृष्टिः संसारातपहारिणी ॥ ४० ॥

अर्थः—भगवान के समवसरण में देवोंकेद्वारा इन्द्रकी आज्ञा से संसार के आतप व संतापको दूर करनेवाली सब जीवों को आनन्द देनेवाली गंधोदक वृष्टि होना दशवां अतिशय है ॥ ४० ॥

त्वत्प्रभावान्मही देवैर्निष्कंटकानिरामया ।
वालुकाधूलिनिर्मुक्ता दिशश्चविमलीकृताः ॥४१॥

अर्थः—हे प्रभो आप के प्रभाव से पवनकुमार जाति के देव वहांकी पृथ्वी को सब तरह के कांटो से रहित, रोगों से रहित और बालू व धूलि आदि से रहित, बना देते हैं और इसी लिये दिशाएं सब ओर भी निर्मल हो

जाती है। यह पृथ्वी का धूलिकंटक रहित हो जाना भगवान का ग्यारहवां अतिशय है ॥ ४१ ॥

त्वत्समीपाज्जनानां हि जाता परिणतिः शुभा।
परमानन्दसंदोहा हृदयाल्हादकारिणी ॥४२॥

अर्थः—हे प्रभो आपकी निकटता से लोगों के परिणाम अत्यंत शुभ परमानंद स्वरूप और हृदय में अत्यंत आल्हाद उत्पन्न करनेवाले हो जाते हैं। समस्त जीवों का हर्षित और प्रसन्न होना बारहवां अतिशय है ॥४२ ॥

अर्हत्पुरो धर्मचक्रं चचालाधर्मनाशकम्।
सहस्रारैः सदा युक्तं स्वच्छं बिम्बं रवेरिव ॥४३॥

अर्थः—भगवान् अरहंतदेव के सामने सदा धर्मचक्र चलता है। वह धर्मचक्र अधर्म को नाश करनेवाला है एक हजार आरों से सदा सुशोभित रहता है और सूर्य के बिम्ब के समान स्वच्छ और देदीप्यमान रहता है, यह धर्मचक्र का आगे चलना भगवान का तेरहवां अतिशय है ॥ ४३ ॥

द्रव्याणि मंगलान्यष्टौ व्यजनं झारिका तथा।
कलशः स्वस्तिकं छत्रं चमरो दर्पणं ध्वजा॥४४॥

अर्थः—भगवान के सामने पंखा, झारी, कलश, स्वस्तिक, छत्र, चमर, दर्पण और ध्वजा ये आठ मंगल द्रव्य होते हैं। भगवान के सामने अष्ट मंगलद्रव्यों का रहना भगवान का चौदहवां अतिशय है ॥ ४४ ॥

विनाशका नृणां व्याधेः सुरोत्पन्नाश्चतुर्दश ।
आनन्दकारका विश्वेऽतिशया इति वर्णिताः॥४५॥

अर्थः—इस संसार में मनुष्यों की व्याधियों को दूर करने वाले और सब को आनंद देने वाले और देवों के द्वारा किये गये ऐसे चौदह अतिशय होते हैं ऊपर मैंने उन्हीं का वर्णन किया है ॥ ४५ ॥

एवं समुदिताः सर्वे चतुस्त्रिंशत्प्रमाणकाः ।
अर्हतोऽतिशयाः सर्वे दुःखदारिद्रनाशकाः ॥४६॥

अर्थः—इसप्रकार अरहंतदेव के सब मिलाकर चौतीस अतिशय होते हैं जो कि वे सब दुःख और दरिद्रता नाश करनेवाले होते हैं ॥ ४६ ॥

आठ प्रातिहार्य

प्रातिहार्याणि कथ्यन्ते ह्यष्टौ सुखकराणि वै ।
भव्यभानोः क्षमासिंधोः पुण्यमूर्तेः जिनेशिनः ॥

अर्थः—भगवान अरहंतदेव भव्यजीवरूपी कमलों को प्रफुल्लित करने के लिये सूर्य के समान हैं, क्षमा के सागर हैं और पुण्य की मूर्ति है, ऐसे उन भगवान के सब जीवों को सुख देनेवाले आठ प्रातिहार्य होते हैं। आगे उन्हीं का वर्णन करते हैं ॥ ४७ ॥

अशोको जायते यस्य पादपंकजसेवनात् ।
वृक्षोपि भव्यजीवास्तु भवन्त्येव न संशयः ॥४८॥
वृक्षोह्यशोकनामेदं प्रथमं प्रातिहार्यकम् ।
सर्वशोकहरं भव्यजीवानां वांछितप्रदम् ॥४९॥

अर्थः—हे भगवन् आप के चरणकमलों की सेवा करने से जब वृक्ष भी अशोक हो जाता है फिर भला भव्यजीव आप के चरणकमलों की सेवा करने से शोक रहित हो जायं तो इस में कोई संदेह की बात नहीं है। भगवान के पीछे अशोकवृक्ष का रहना पहला प्रातिहार्य है। यह अशोकवृक्ष समस्त शोकों को दूर करनेवाला है और भव्यजीवों को इच्छानुसार फल देनेवाला है ॥ ४८–४९ ॥

सूर्याचन्द्रमसौ तस्य वपुःकान्त्या पराजितौ ।
छत्रत्रयामिषात्तौ च त्रयोभूत्वा सदा स्थितौ ॥५०॥

अर्थः—भगवान अरहंतदेव के शरीर की कांति से सूर्य चन्द्रमा दोनों ही पराजित होगये थे इसी लिये मानों तीनों छत्रों के बहाने से वे दोनों ही सूर्य चन्द्रमा तीन रूप धारण कर भगवानकी सेवा में सदा रहते हैं भगवान के तीन छत्रों का होना तीसरा प्रातिहार्य है ॥ ५० ॥

भामण्डलप्रभापूरैः शोभते मोक्षदायकः ।
पूर्वाचले यथा सूर्यः सहस्रकिरणैर्वरैः ॥ ५१ ॥

अर्थः—जिसप्रकार पूर्वाचल पर्वतपर अपनी उत्तम एक हजार किरणों से सूर्य शोभायमान होता है उसी प्रकार भव्यजीवों को मोक्षप्रदान करनेवाले भगवान अरहंत देव अपने भामंडल की प्रभा के समूह से बहुत ही सुंदर शोभायमान होते हैं। यह भामंडल का होना भगवान का चौथा प्रातिहार्य है ॥ ५१ ॥

सर्वभाषामयी दिव्यध्वनिः स्वर्मोक्षदायिनी ।
शिखिनां मेघवद्याऽभूद्भव्यानां क्लेशशान्तये ॥

अर्थः—जिस प्रकार मेघ मयूरों के समस्त क्लेशों को दूर कर देता है उसी प्रकार भव्यजीवों के समस्त क्लेशों को दूर करनेवाली तथा स्वर्ग मोक्ष को देनेवाली और सर्वभाषामयी ऐसी भगवान की दिव्यध्वनि खिरती है। यह दिव्यध्वनिका खिरना पांचवां प्रतिहार्य है ॥ ५२ ॥

पुष्पवृष्टिः सुरैर्मुक्ता पतिता शान्तिदा दिवः ।
देवैर्भक्त्या कृता पूजा श्रीपतेर्यशसां ततिः ॥५३॥

अर्थः—भगवान के समवसरण में देवों के द्वारा की हुई और भव्यजीवों को शांति देनेवाली पुष्पवृष्टि आकाशसे सतत पडती रहती है और वह ऐसी जान पडती है मानों बडी भक्ति के साथ देवोंने भगवानकी पूजा ही की हो अथवा भगवान के यशकी पंक्ति ही ऊपर से पड रही हो। सतत पुष्पवृष्टि का होना भगवान का छठा प्रातिहार्य है ॥ ५३ ॥

चतुःषष्टिप्रमाणैर्हि यक्षैश्चालितचामरैः ।
तरंगैरिव दुग्धाब्धेः रराज जिननायकः ॥ ५४ ॥

अर्थः—यक्ष जाति के देव भगवान के पार्श्वों में चौसठ चमर ढुलाते थे। उन चमरों से तीनों लोकों के स्वामी भगवान ऐसे शोभायमान होते हैं मानों सेवा के लिये आई हुई क्षीरसागरकी लहरों से ही शोभायमान हो रहे हों भगवान पर चौसठ चमरों का ढुलना सातवां प्रातिहार्य है ॥ ५४ ॥

देवेश्वरैः सदा वंद्ये भवक्लेशविनाशिनि ।
स्नानं कुर्युः प्रभोस्तीर्थे दुंदुभिर्ध्वनतीति खे ॥

अर्थः-भगवान अरहंतदेव का तीर्थ इन्द्रों के द्वारा वंदनीय है और संसार के समस्त क्लेशों को नाश करनेवाला है। इसलिये उसी में सब भव्यजीवों को सदा स्नान करते रहना चाहिये इसी बात को सूचित करती हुई मानों दुंदुभि आकाश में सदा बजती रहती है। समवसरण के ऊपर आकाश में सदाकाल दुंदुभिका बजाना भगवान का आठवां प्रातिहार्य है ॥ ५५ ॥

इत्यष्टप्रातिहार्याणां रचना विश्वमोहिनी ।
स्तुता भक्त्या सदानन्ददायिनी हि जगत्पतेः ॥

अर्थः—इसप्रकार भगवान अरहंतदेव के आठों प्रातिहार्यों की रचना समस्त संसार को मोहित करनेवाली है और सदाकाल आनंद देनेवाली है उसी प्रातिहार्यों की रचना की मैंने भक्तिपूर्वक यह स्तुति की है ॥ ५६ ॥

अनन्तचतुष्टय

वर्ण्यतेह्यधुना नूनं चतुष्टयमनन्तकम् ।
घातिकर्मक्षयाज्जातं केवलज्ञानसूचकम् ॥५७॥
अनन्तदर्शनं ज्ञानमनन्तसुखपूरितम् ।
अनन्तवीर्यसहितं सर्वक्लेशविदूरकम् ॥ ५८॥

अर्थः—अब आगे भगवान के अनन्तचतुष्टयों का वर्णन करते हैं। समस्त घातिया कर्मों के क्षय होने से अनंतदर्शन अनंतज्ञान, अनंतसुख और अनंतवीर्य ये चार अनंतचतुष्टय भगवान अरहंतदेव के प्रगट होते हैं। ये चारों ही अनंतचतुष्टय केवलज्ञान के सूचक हैं और समस्त क्लेशों को दूर करनेवाले हैं ॥ ५७–५८ ॥

सर्वदर्शनरोधस्य कर्मणोऽनन्तदर्शनम् ।
क्षयात्स्वसुखदं प्राप्तं लोकालोकप्रदर्शकम् ॥५९॥

अर्थः—भगवान अरहंतदेव के समस्त दर्शनावरण कर्म के क्षय होने से अपने आत्मा को सुख देनेवाला और लोक अलोक दोनों को प्रकाशित करनेवाला व दिखलानेवाला अनंतदर्शन प्राप्त होता है ॥ ५९ ॥

क्षयाद्धि कर्मणो ज्ञानावरणस्य जगत्पतेः ।
अनन्तज्ञानमभवल्लोकालोकप्रकाशकम् ॥ ॥ ६० ॥

अर्थः—इसीप्रकार भगवान अरहंतदेव के ज्ञानावरण कर्म के अत्यंत क्षय होने से लोक अलोक दोनों को प्रकाशित करनेवाला अनंतज्ञान प्रगट होता है । ॥ ६० ॥

मोहकर्मक्षयान्नूनं शान्तिदं क्षयवर्जितम् ।
अनन्तसुखमापन्नं स्थिरं निरुपमं प्रभोः ॥६१॥

अर्थः—भगवान अरहंतदेव के मोहनीय कर्म का सर्वथा नाश हो जाता है इसलिये उन के पूर्णशान्ति को देनेवाला, कभी न क्षय होनेवाला, सदा स्थिर बना रहने वाला और उपमारहित ऐसा अनंतसुख प्राप्त होता है ॥ ६१ ॥

क्षयाद्वीर्यमनन्तं हि वीर्यरोधककर्मणः ।
दर्शनज्ञानयोः स्थानं क्षायिकं ह्यभवत्प्रभोः॥६२॥

अर्थः—भगवान अरहंतदेव के वीर्यान्तरायकर्मका अत्यंतक्षय होने से क्षायिक अनन्तवीर्य प्रगट होता है। यह अनंतवीर्य दर्शन और ज्ञानका स्थान है अर्थात् अनंत वीर्य के होने से ही अनंतज्ञान और अनंतदर्शन होता है। इसप्रकार भगवान के अनंतदर्शन अनंतज्ञान अनंत सुख और अनंतवीर्य ये चार अनन्तचतुष्टय होते हैं ॥ ६२ ॥

प्राग्भवे षोडशानां हि भावनानां प्रभावतः ।
बद्धं तीर्थकरत्वं हि नाम पुण्यं जिनेशिना ॥६३॥

अर्थः—तीर्थंकर परमदेव अपने पहले भवमें सोलह कारण भावनाओं का चिंतवन करते हैं और उन्हीं भावना ओं के चिंतवन करने से महापुण्यस्वरूप तीर्थंकर नाम कर्म का बंध करते हैं ॥ ६३ ॥

एवं तत्पुण्ययोगेनाचिन्त्यां पूतां मनोहराम् ।
आश्चर्यकारिकां लोके विभूतिं लब्धवान् विभुः ॥

अर्थः—इसीलिये वे भगवान अरहंतदेव उस तीर्थंकर नामकर्म के उदयरूप महापुण्य के निमित्त से अत्यंत अचिंत्य पवित्र मनोहर और तीनों लोकों में आश्चर्य उत्पन्न करनेवाली समवसरणरूप बाह्यविभूति और अनंत चतुष्टयरूप अंतरंगविभूति को प्राप्त होते हैं ॥ ६४ ॥

भगवान अठारह दोषों से रहित होते हैं उन अठारह
दोषों का वर्णन

तृषाजन्मजराखेदैः क्षुधाश्चर्ययुतैः सदा ।
रागरोगभयैः स्वेदैः दुःखशोकैर्भवप्रदैः ॥ ६५ ॥
निद्राचिन्तामदैर्मोहैर्दोषैर्द्वेषसमान्वितैः ।
मुक्तोस्ति मरणेनापि युक्तोऽनन्तचतुष्टयैः ॥६६॥

अर्थः—तृषा (प्यास) जन्म लेना, बुढापा, खेद, क्षुधा, आश्चर्य, राग, रोग, भय, स्वेद [पसीना] दुःख, शोक, निद्रा, चिन्ता, मद, मोह, द्वेष और मरण ये अठारह दोष कहलाते हैं ये सब दोष संसार के समस्त दुःखों को देनेवाले हैं। भगवान अरहंतदेव इन अठारहों दोषों

से सर्वथा रहित होते हैं और अनंतचतुष्टय से सुशोभित रहते हैं ॥ ६५–६६ ॥

पूर्वोद्दिष्टैर्गुणैरेभिः शोभितं सुसुखप्रदम् ।
अर्हन्तं भवनाशाय वन्देऽहं भवनाशकं ॥६७॥

अर्थः—भगवान अरहंतदेव ऊपर कहे हुए समस्त छ्यालीस गुणों से सुशोभित रहते हैं संसार को नाश करने वाले होते हैं और आत्मजन्यसुख को देनेवाले होते हैं ऐसे भगवान अरहंतदेवको मैं अपना जन्ममरणरूप संसार का नाश करने के लिये नमस्कार करता हूं ॥ ६७ ॥

इसप्रकार अरहंत परमेष्ठीके गुणों का वर्णन किया

सिद्धपरमेष्ठी के गुण

यथाशक्त्यैव वर्ण्यन्ते श्रीसिद्धपरमेष्ठिनाम् ।
अष्टौ गुणाः सदाचिन्त्या अधुना स्वर्गमोक्षदाः ॥

अर्थः—भगवान सिद्धपरमेष्ठी में आठ गुण होते हैं, और वे सब गुण सदा चिन्तवन करने योग्य हैं और स्वर्ग मोक्ष के देनेवाले हैं इसलिये अब अपनी शक्ति के अनुसार उन्हीं गुणों का वर्णन करते हैं ॥ ६८ ॥

सम्यक्त्वेन गुणेनैव सुखामृतरसेन वै ।
स्थिरेण सुखपुंजेन सिद्धा भान्ति सुसिद्धिदाः ॥

अर्थः—मोक्षरूप परमसिद्धि को देनेवाले सिद्धपरमेष्ठी अपने सम्यक्त्व गुण से सदा सुशोभित रहते हैं। यह सम्यक्त्व गुण सुखरूपी अमृत के रस से भरपूर है, सदा स्थिररूप रहता है और सुख का पुंज है। यह सम्यक्त्वगुण सिद्धपरमेष्ठी का पहला गुण है ॥ ६९ ॥

सर्वद्रव्याणि जानन्तः केवलज्ञानलब्धितः ।
सपर्ययाणि सिद्धा ये ते भवन्तु सुखाप्तये ॥७०॥

अर्थः—जो सिध्दपरमेष्ठी अपने केवलज्ञानरूपी लब्धि से भूत भविष्यत् काल में होनेवाली अनंतानंत पर्यायों सहित समस्त द्रव्यों को जानते हैं वे सिध्दपरमेष्ठी मुझे सुख देनेवाले हों। यह अनंतज्ञान सिध्दपरमेष्ठी का दूसरा गुण है ॥ ७० ॥

अनन्तानन्तवस्तूनि पश्यन्तः स्वात्मचक्षुषा ।
श्रमं विना हि शोभन्ते सिद्धा नित्यसुखप्रदाः ।।

अर्थः—मोक्षरूप नित्यसुख को देनेवाले वे सिध्द परमेष्ठी अपने शुध्द आत्मस्वरूपनेत्रों के द्वारा विना किसी परिश्रम के अनंतानंत वस्तुओं को देखते हुए सदा सुशोभित रहते हैं। यह अनंतदर्शन सिद्धपरमेष्ठीका तीसरा गुण है ॥ ७१ ॥

गुणेनानन्तवीर्येण तेजोराशिमयेन वै ।
आनन्दसहिताः सिद्धाः सिद्धिं दद्युः स्वसौख्यदाम्

अर्थः—वे सिध्दपरमेष्ठी तेज के समूहमय ऐसे अनंतवीर्य नाम के गुण से सदा आनंद सहित विराजमान रहते हैं ऐसे वे सिध्दभगवान अपने आत्मजन्यसुख को देनेवाली सिध्दिको प्रदान करें । सिद्धपरमेष्ठी के अनंत वीर्य का होना चौथा गुण है ॥ ७२ ॥

नामकर्मक्षयात्प्राप्तं सूक्ष्मत्वं सुखशान्तिदम् ।
सिद्धैः सदा जगद्वंद्यैः संसारक्लेशनाशकैः ॥७३॥

अर्थः—तीनों लोकों के द्वारा वंदनीय और संसार के समस्त क्लेशों का नाश करनेवाले ऐसे सिद्धपरमेष्ठी भगवान अपने नामकर्म के अत्यंतक्षय हो जाने से समस्त सुख और शान्तिको देने वाले सूक्ष्मत्वगुण को प्राप्त होते हैं । सिध्दपरमेष्ठी का यह सूक्ष्मत्व पांचवां गुण है ॥ ७३ ॥

तथायुःकर्मणो नाशादवगाहगुणेन तु ।
लब्धेनानन्दपुंजेन सिद्धा भान्ति सुशांतिदाः ॥

अर्थः—सर्वोत्तमशान्ति को देनेवाले सिद्धभगवान को आयुकर्म के नाश होने से अनंत आनंद का समूह

ऐसा अवगाहनगुण प्राप्त होता है। उस गुण से वे भगवान सदा सुशोभित रहते हैं। यह अवगाहनगुण सिद्ध परमेष्ठी का छठा गुण है॥ ७४ ॥

स्वर्गमोक्षप्रदाः सिद्धास्तथागुरुलघुस्पृशः।
गोत्रकर्मविनाशाद्धि भवन्तु भवहानये ॥ ७५ ॥

अर्थः—स्वर्ग मोक्ष को देनेवाले सिद्धपरमेष्ठी को गोत्रकर्म के नाश होने से अगुरुलघु गुण प्राप्त होता है। इसप्रकार अगुरुलघुगुण को प्राप्त होनेवाले सिद्धपरमेष्ठी मेरे जन्ममरणरूप संसार का नाश करें। यह अगुरुलघु सातवां गुण है॥ ७५ ॥

सातासातक्षयात्सिद्धैरव्याबाधगुणः परः।
प्राप्तः सदा हि जगतः शान्तिदः सुखदायकैः॥

अर्थः—समस्त जीवों को सुख देनेवाले उन सिद्ध परमेष्ठी को सातावेदनीय और असातावेदनीय कर्म के अत्यंतनाश होने से सर्वोत्कृष्ट और तीनों लोकों को सदा शांति देनेवाला अव्याबाधगुण प्राप्त हुआ है। यह अव्याबाध नामका गुण सिद्धों का आठवां गुण है॥७६॥

इत्यष्टभिर्गुणैस्तुष्टाः सिद्धा लोकाग्रवासिनः।
चिदानन्दमया लोके शोभन्ते शान्तिसौख्यदाः॥

अर्थः—इसप्रकार ऊपर कहे हुए आठों गुणों से वे सिद्धपरमेष्ठी सदा संतुष्ट वा आत्मामें लीन रहते हैं, लोक के शिखरपर विराजमान रहते हैं, चैतन्यस्वरूप तथा सदा आनन्दमय हैं और समस्त लोक में शान्ति और सुख को देनेवाले हैं। ऐसे वे भगवान सदा शोभायमान रहते हैं ॥ ७७ ॥

सिद्धान् त्रैलोक्यपूज्यान् हि लोकातीतसुखप्रदान्
भक्त्या ध्यायाम्यहं स्तौमि तद्गुणप्राप्तये सदा ॥

अर्थः—जो सिद्धभगवान् तीनों लोकों के द्वारा पूज्य हैं और अलौकिक मोक्षरूप सुख को देनेवाले हैं ऐसे सिद्धभगवान का मैं उन के गुणों की प्राप्ति के लिये सदा ध्यान करता हूं और भक्तिपूर्वक सदा उन की स्तुति करता हूं ॥ ७८ ॥

इसप्रकार सिद्धों की स्तुति समाप्त हुई

आगे आचार्य परमेष्ठी के गुणवर्णन करते हैं

भक्त्या मया हि कथ्यन्ते ह्याचार्यपरमेष्ठिनाम् ।
गुणाः स्वर्मोक्षदाः पूताः षट्त्रिंशत्प्रमयान्विताः ॥

अर्थः—आचार्यपरमेष्ठी के छत्तीस गुण होते हैं और वे सब गुण पवित्र होते हैं तथा स्वर्गमोक्ष के देने वाले होते हैं इसलिये मैं अब भक्तिपूर्वक उन्हीं गुणों का

वर्णन करता हूं। बारह प्रकारका तप, दश प्रकारका धर्म, छह आवश्यक, पांच आचार और तीन गुप्ति इसप्रकार आचार्य के छत्तीस गुण होते हैं ॥ ७९॥

बारह प्रकारका तप

तपो ह्यनशनं धत्ते त्यक्त्वाहारं चतुर्विधम् ।
चित्ताक्षाणि वशं नीत्वा लीनः स्वात्मनि नौमि तम्

अर्थः—जो आचार्य चारों प्रकार के आहारका त्याग कर अनशन वा उपवास नाम का तपश्चरण धारण करते हैं और मन तथा इन्द्रियों को अपने वश में लाकर अपने आत्मा में सदा लीन रहते हैं ऐसे आचार्यपरमेष्ठी को मैं नमस्कार करता हूं। यह अनशन नामका प्रथम तप है और आचार्य परमेष्ठीका पहला गुण है ॥ ८० ॥

स्वाध्यायध्यानहेतोर्ह्यवमोदर्यं तपो वरम् ।
धृत्वा यो यतते पातुं स्वरसं नौमि तं मुदा ॥८१॥

अर्थः—जो आचार्य स्वाध्याय और ध्यान में लीन होने के लिये श्रेष्ठ अवमोदर्यतप को धारण करते हैं और इसप्रकार अपने आत्मजन्य परमानंदरसको रक्षा करनेके लिये सदा प्रयत्न करते रहते हैं ऐसे आचार्यपरमेष्ठी को मैं बड़ी प्रसन्नता के साथ नमस्कार करता हूं। यह ऊनो-

दर नामका दूसरा तप है और आचार्यका दूसरा गुण है ॥ ८१ ॥

इच्छाविनाशहेतोर्यः परीक्षार्थं हि कर्मणः ।
वृत्तिसंख्यातपो धत्ते चर्यार्थं नौमि तं मुदा ॥

अर्थः—जो आचार्य अपनी इच्छाका नाश करनेके लिये और अपने कर्मों के उदयकी परीक्षा करनेके लिये आहारको जाते समय वृत्तिपरिसंख्यान ["अमुक स्थानपर आहार मिलेगा तो लूंगा वा पडगाहन के समय ऐसा निमित्त मिलेगा तो आहार लूंगा नहीं तो नहीं" इसप्रकार का नियम] नामका तपश्चरण धारणकरते हैं ऐसे आचार्य को मैं प्रसन्न होकर नमस्कार करता हूं। यह वृत्तिपरिसंख्यान नामका तीसरा तप है और आचार्यका तीसरा गुण है ॥ ८२ ॥

बाह्यै रसैरयं चात्मा नैव तुष्यति पुष्यति ।
विहाय षड्रसान् तुष्टः स्वरसे नौमि तं सदा ॥

अर्थः—यह आत्मा खट्टे, मीठे आदि बाह्य रसों से न कभी संतुष्ट हो सकता है और न कभी पुष्ट हो सकता है यही विचार कर जो आचार्य छहों रसो का त्याग कर अपने आत्मरस में ही संतुष्ट रहते हैं ऐसे आचार्यपरमेष्ठी को मैं सदा नमस्कार करता हूं । यह

रसपारत्याग नामका चौथा तप है और आचार्यपरमेष्ठी का चौथा गुण है ॥ ८३ ॥

चित्तवेगनिरोधार्थं स्थाने निर्जन्तुके वसन् ।
एकान्ते यतते स्थातुं स्वपदे योऽपि नौमि तम् ॥

अर्थः—जो आचार्य अपने मन के वेगको रोकने के लिये जीवजंतु रहित किसी एकांत स्थान में निवास करते हुए अपने शुद्ध आत्मा में लीन होने के लिये प्रयत्न करते रहते हैं ऐसे आचार्य को मैं नमस्कार करता हूं। यह विविक्तशय्यासन नामका पांचवा तप है और आचार्य परमेष्ठी का पांचवां गुण है ॥ ८४ ॥

शीते कर्मविनाशार्थं नद्यास्तीरे तरोस्तले ।
वर्षाकाले तु ग्रीष्मे हि गिरौ संतिष्ठते यतिः ॥

अर्थः—वे आचार्य अपने कर्मों को नाश करने के लिये शीत काल में नदी के किनारे ध्यान धारण कर बैठते हैं वर्षाऋतु में वृक्ष के नीचे ध्यान धारण करते हैं और ग्रीष्म ऋतु में [गर्मी में] पर्वतपर ध्यान धारण करते हैं यह कायक्लेश नाम का छटा तप है और आचार्यपरमेष्ठीका छटा गुण है। इस प्रकार छह प्रकार के बाह्य तपश्चरणका स्वरूप कहा। अब अंतरंग तपश्चरणों का स्वरूप कहते हैं ॥ ८५ ॥

एवं षड्भेदकं बाह्यं तपः प्रोक्तं सुदुर्द्धरम् ।
अधुना प्रोच्यते नूनमन्तरंगं हि षड्विधम् ॥८६॥

अर्थः—इसप्रकार अत्यंत दुर्द्धर (जिसको कायर पुरुष धारण न कर सकें] ऐसे छहप्रकार के बाह्य तपका निरूपण किया। अब आगे छहप्रकार के अंतरंग तपका निरूपण करते हैं ॥ ८६ ॥

गुरवे कृतदोषं यो निवेदयति शुद्धधीः ।
न करोति पुनर्दोषं तृप्तः स्वात्मनि नौमि तम् ॥

अर्थः—जो आचार्य शुद्धबुद्धि को धारण कर अपने किये हुए दोषों को ज्यों के त्यों गुरु के सामने कह देते हैं और उस में कोई दोष नहीं लगाते तथा अपने आत्मा में ही सदा तृप्त रहते हैं ऐसे आचार्यपरमेष्ठी को मैं नमस्कार करता हूं। यह प्रायश्चित्त नाम का पहला अंतरंग तप है और आचार्यपरमेष्ठी का सातवां गुण है ॥८७॥

सम्यग्दृग्बोधचारित्रैर्भूषितानां हि योगिनाम् ।
कुरुते विनयं भक्त्या तृप्तः स्वात्मनि नौमि तम्॥

अर्थः—जो आचार्य सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से सुशोभित होनेवाले मुनियों की भक्ति पूर्वक विनय करते रहते हैं और अपने आत्मा में सदा

लीन रहते हैं ऐसे आचार्यपरमेष्ठी को मैं नमस्कार करता हूं। यह विनय नामका दूसरा अंतरंग तप है और आचार्य परमेष्ठी का आठवां गुण है ॥ ८८ ॥

त्यक्त्वा मानं प्रमादं यो बालवृद्धादियोगिनाम्।
वैयावृत्यं सदा कुर्वन् स्वपदे स्तौमि तं स्थिरम् ॥

अर्थः—जो आचार्य अपने मान वा प्रमाद को छोड़कर बालक वा वृद्ध मुनियों की वैयावृत्य करते रहते हैं और सदा अपने आत्मा में स्थिर रहते हैं ऐसे आचार्य की मैं स्तुति करता हूं। यह वैयावृत्य नाम का तीसरा अंतरंग तप है और आचार्यपरमेष्ठी का नौवां गुण है ॥ ८९ ॥

येन ज्ञानादिवृद्धयर्थं पठ्यते पाठ्यते श्रुतम्।
स्वस्वादं स्वादयन् धीरः स्वाध्यायतपसा युतः ॥

वे आचार्य अपना ज्ञान और वैराग्य बढाने के लिये अनेक धर्मशास्त्रों को पढते हैं वा पढाते हैं तथा वे धीर वीर अपने आत्मजन्य रस के स्वादको आस्वादन करते रहते हैं और इसप्रकार वे स्वाध्यायरूपी तपश्चरण से सदा सुशोभित रहते हैं। यह स्वाध्याय नाम का चौथा अंतरंग तप है और आचार्यपरमेष्ठी का दशवां गुण है ॥ ९० ॥

बाह्यान्तर्भेदतः संगं तापदं द्विविधं हि यः
त्यक्त्वा पुनः शरीराद्धि निर्मोहोऽभूत्स्वसिद्धये ॥

अर्थः—वे आचार्यपरमेष्ठी बाह्य और अभ्यंतर के भेद से दोनों प्रकार के संताप देनेवाले परिग्रहका त्याग कर देते हैं और आत्माकी शुद्धता प्रगट करने के लिये शरीरसे भी ममत्वका त्याग कर देते हैं। इस को व्युत्सर्ग नाम का तपश्चरण कहते हैं। यह पांचवां अंतरंग तप है और आचार्यपरमेष्ठीका ग्यारहवां गुण है ॥ ९१ ॥

त्यक्त्वार्त्तरौद्रदुर्ध्यानं धर्मं शुक्लं करोति यः।
आत्मनात्मानि चात्मानं ध्यायते नौमि तं मुदा।

अर्थः—जो आचार्य आर्तध्यान और रौद्रध्यान इन दोनों अशुभध्यानों का त्याग कर धर्मध्यान वा शुक्लध्यान को धारण करते हैं और जो अपने आत्मा में अपने ही आत्मा के द्वारा अपने ही आत्मा का ध्यान करते हैं ऐसे आचार्य को मैं प्रसन्न होकर नमस्कार करता हूं। इस को ध्यान नाम का तपश्चरण कहते हैं। यह छटा अंतरंग तप है और आचार्यपरमेष्ठी का बारहवां गुण है ॥९२॥

स्वर्मोक्षदं क्लेशहरं सुखदं शान्तिदं तथा ।
तपो द्वादशधा प्रोक्तं स्वसुखप्रापकं मया ॥९३॥

अर्थः—इसप्रकार मैंने बारहप्रकार के तपश्चरणका स्वरूप कहा। यह बारहों प्रकारका तपश्चरण स्वर्गमोक्ष का देनेवाला है, समस्त क्लेशों को दूर करनेवाला है, सुख देनेवाला है शान्तिको देनेवाला है और अपने आत्मजन्य सुख को प्राप्तकराने वाला है ॥ ९३ ॥

दशधर्मका स्वरूप

स्वपद्द्योतका धर्मा,
दशापत्तिविनाशकाः ।
वर्ण्यन्ते हि क्षमाद्यास्तु,
शान्तिसौख्यप्रदा नृणाम् ॥ ९४ ॥

अर्थः—अब मैं उत्तमक्षमा, उत्तममार्दव उत्तम आर्जव, उत्तमशौच, उत्तमसत्य, उत्तमसंयम, उत्तम त्याग, उत्तमअकिंचन्य और उत्तमब्रम्हचर्य इन दश धर्मों का वर्णन करता हूं। ये सब धर्म अपने आत्मा के शुद्धस्वरूप को प्रकाशितकरनेवाले हैं, समस्त आपत्ति यों को नाशकरनेवाले हैं और मनुष्यों को सदा सुख शांति देनेवाले हैं ॥ ९४ ॥

क्रोधत्यागात्क्षमाधर्मो जायते मोक्षदो नृणाम् ।
ज्ञात्वेति क्रोधमुज्झित्वा स्वधर्मस्थं स्तवीमि तम्॥

अर्थः—क्रोधकषाय का त्याग कर देने से मनुष्यों को मोक्ष देनेवाला उत्तमक्षमा नाम का धर्म प्राप्त होता है यही समझकर जो आचार्य क्रोध को छोडकर अपने क्षमा-रूप आत्मधर्म में लीन रहते हैं उनकी मैं स्तुति करता हूं। यह उत्तमक्षमा नाम का पहला धर्म है तथा आचार्य-परमेष्ठी का तेरहवां गुण है ॥ ९५ ॥

भवेन्मार्दवधर्मो हि,
मानत्यागात्सुखप्रदः ।
ज्ञात्वा त्यक्त्वेति मानं यो,
तिष्ठत्यात्मनि नौमि तम् ॥ ९६ ॥

अर्थः—मानकषाय त्यागकर देने से सब जीवों को सुख देनेवाला मार्दवधर्म प्रगट होता है। यही समझ कर जो आचार्य मानकषायका त्याग कर अपने आत्मा में लीन होते हैं उन को मैं नमस्कार करता हूं। यह उत्तम मार्दव नाम का दूसरा धर्म है और आचार्यपरमेष्ठी का चौदहवां गुण है ॥ ९६ ॥

भवेदार्जवधर्मो हि मायात्यागान्मनोहरः ।
इत्थं मायाग्रहं मुक्त्वा तुष्टः स्वात्मनि नौमि तम्

अर्थः—इसीप्रकार मायाचार का त्याग कर देने से मनोहर आर्जवधर्म प्रगट होता है। यही समझकर जो

आचार्य मायाकषायरूपी पिशाच का त्याग कर अपने आत्मा में संतुष्ट रहते हैं उन आचार्य को मैं नमस्कार करता हूं। यह उत्तम आर्जव नाम का तीसरा धर्म है और आचार्यपरमेष्ठी का पन्द्रहवां गुण है॥ १७॥

सत्यधर्मो भवेन्नूनमनृतस्य विवर्जनात्।
बुध्वा त्यक्त्वेति योऽसत्यं स्वधर्मे नौमि तिष्ठति॥

अर्थः—मिथ्याभाषण वा झूठ बोलने के त्याग कर देने से अवश्यही सत्यधर्म प्रगट होता है यही समझकर जो आचार्य असत्यभाषण का त्याग कर अपने आत्म धर्म में सदा लीन रहते हैं उन को मैं नमस्कार करता हूं। यह उत्तमसत्य नाम का चौथा धर्म है और आचार्य परमेष्ठी का सोलहवां गुण है॥ १८॥

शौचधर्मो भवेन्नूनं लोभत्यागात्सुखावहः।
लोभं त्यक्त्वेति स्वात्मानं ध्यायते यो हि नौमि तम्

अर्थः—लोभकषाय के त्याग कर देने से सब जीवों को सुख देनेवाला शौचधर्म प्रगट होता है यही विचार कर जो आचार्य लोभ का त्याग कर अपने आत्मा का चिन्तवन करते हैं उन को मैं नमस्कार करता हूं। यह शौच नाम का पांचवां धर्म है। और आचार्य परमेष्ठी का सत्रहवां गुण है॥ १९॥

भवेदक्षनिरोधाद्धि संयमः क्लेशनाशकः।
त्यक्त्वेत्यक्षसुखं तृप्तः स्वसुखे यो हि नौमि तम्

अर्थः—समस्त इन्द्रियों को निरोध करने से वा वश में करने से क्लेशों को दूर करनेवाला संयम नाम का धर्म प्रगट होता है। यही समझकर जो आचार्य इन्द्रिय सुखों का त्याग कर अपने आत्मजन्य सुख में तृप्त रहते हैं उस आचार्य को मैं नमस्कार करता हूं। यह उत्तमसंयम नाम का छठा धर्म है और आचार्यपरमेष्ठी का अठारहवां गुण है॥ १०० ॥

इच्छारोधात्तपोधर्मः श्रेयानिति विचारयन्।
इच्छारोधं हि यः कुर्वन्नास्ते स्वात्मनि नौमि तम्

अर्थः—समस्त इच्छाओं के रोकने से तप नामका धर्म प्रगट होता है। जो आचार्य इस तपोधर्म को सर्वोत्कृष्ट मानते हैं और यही विचार कर सदा इच्छाओं का निरोध करते हुए अपने आत्मा में लीन रहते हैं उन आचार्य को मैं नमस्कार करता हूं। यह तप नाम का सातवां धर्म है और आचार्यपरमेष्ठी का उनईसवां गुण है॥ १०१ ॥

त्यागधर्मो भवेदन्यभावानां वर्जनादिति।
परभावं त्यजन् कुर्वन् दानं स्वं वेत्ति नौमि तम्

अर्थः—अपने आत्मा से भिन्न परभावों का सर्वथा त्याग करदेने से त्यागधर्म प्रगट होता है। अत एव जो आचार्य परभावों का त्याग कर ज्ञानादिक का सदा त्याग करते रहते हैं और अपने आत्मा के स्वरूप को अच्छीतरह जानते हैं उन आचार्य को मैं नमस्कार करता हूं। यह उत्तमत्याग नाम का आठवां धर्म है तथा आचार्यपरमेष्ठीका वीसवां गुण है ॥ १०२ ॥

बाह्याभ्यन्तरसंगौ हि त्यक्त्वा स्वात्मनि तिष्ठति ।
भेदविज्ञानशस्त्रं यः करे धृत्वा स्तवीमि तम् ॥

अर्थः—जो आचार्य भेदविज्ञानरूपी शस्त्र को हाथ में लेकर बाह्य और अभ्यंतर समस्त परिग्रहोंको हटा देते हैं सब का त्याग कर देते हैं और फिर अपने आत्मा में लीन रहते हैं उनकी मैं स्तुति करता हूं। यह उत्तम आकिंचन्य नाम का नौवां धर्म है और आचार्यपरमेष्ठी का इक्कईसवां गुण है ॥ १०३ ॥

सर्वाः स्त्रियः परित्यज्य मुक्तिस्त्रीसंगमाय यः ।
चिन्मये स्वात्मनि स्थातुं यतते स्तौमि तं सदा ॥

अर्थः—जो आचार्य सब प्रकारकी स्त्रियों का त्याग कर मुक्तिरूपी स्त्रीके समागम के लिये प्रयत्न करते हैं और चिदानन्दमय अपने आत्मा में लीन होने के लिये

सदा प्रयत्न करते रहते हैं। ऐसे आचार्यों की मैं दास स्तुति करता हूं। यह ब्रम्हचर्य नाम का दशवां धर्म है और आचार्यपरमेष्ठी का बाईसवां गुण है॥ १०४॥

स्वर्मोक्षदायिनो हृद्या भवक्लेशविनाशिनः।
मन्दबुध्या मया ह्येते दशधर्मास्तु वर्णितः॥

अर्थः—ये ऊपर कहे हुए दशों धर्म स्वर्ग मोक्ष को देनेवाले हैं सब के हृदय को आकर्षित करनेवाले हैं, और संसार के समस्त क्लेशों को नाश करनेवाले हैं। ऐसे ये दशधर्म मैंने अपनी मंदबुद्धि के अनुसार वर्णन किये हैं॥ १०५॥

छहृ आवश्यकों का वर्णन

षण्णामावश्यकानां तु भवक्लेशविनाशिनाम्।
व्याध्याधिनाशकानां च वर्णनं क्रियतेऽधुना॥

अर्थः—समता आदि छहों आवश्यक संसार के समस्त क्लेशों को नाश करनेवाले हैं और आधिव्याधि आदि समस्त रोगों को दूर करनेवाले हैं। ऐसे छहों आवश्यकों का वर्णन अब कहते हैं॥ १०६॥

रागद्वेषौ परित्यज्य समं जानन् प्रियाप्रियौ।
पदार्थौ यतते ध्यातुं स्वात्मानं प्रणमामि तम्॥

अर्थः—जो आचार्य रागद्वेष को सर्वथा छोडकर प्रिय अप्रिय समस्त पदार्थों को समान जानकर सब में समता धारण करते हैं और सदा अपने आत्मा का ध्यान करने के लिये प्रयत्न करते रहते हैं ऐसे आचार्य को मैं नमस्कार करता हूं। यह समता नाम का पहला आवश्यक है और आचार्यपरमेष्ठीका तेईसवां गुण है ॥ १०७ ॥

भक्त्यार्हतां सदा मध्ये वंदनां कुरुते यतिः।
एकस्यैवं स शुद्धात्मा वंदनाप्रविधायकः ॥१०७॥

अर्थः—जो आचार्य मुनिराज अरहंत के मध्य में किसी एक अरहंत की भक्तिपूर्वक वंदना करते हैं वे शुद्ध आत्मा को धारणकरनेवाले वंदना नाम के आवश्यक को करनेवाले कहलाते हैं। यह वंदना नामका दूसरा आवश्यक है और आचार्यपरमेष्ठी का चौबीसवां गुण है ॥ १०८ ॥

योऽर्हतां मोक्षदानां हि स्तुत्य मोक्षो भवेदिति।
ज्ञात्वा कुर्वन् स्तवं नित्यं तृप्तः स्वात्मनि नौमि तम्

अर्थः—भगवान अरहंतदेव मोक्षको देनेवाले हैं अतएव उनकी स्तुति करने से अवश्यही मोक्षकी प्राप्ति होती है। यही समझकर जो आचार्य अरहंतदेवकी सदा स्तुति करते रहते हैं और जो अपने शुद्ध आत्मा में सदा तृप्त रहते हैं उन आचार्यपरमेष्ठी को मैं नमस्कार करता हूं।

यह पंचपरमेष्ठी की स्तुति करना तीसरा आवश्यक है और आचार्यपरमेष्ठीका पच्चीसवां गुण है ॥ १०९ ॥

पक्षादिके कृतं दोषं गुरवे यो निवेदयेत् ।
प्रतिक्रमणमाकुर्वन् शुद्धास्तिष्ठति नौमि तम् ॥

अर्थः—जो आचार्य पक्ष मास और वर्ष आदि में किये हुए वा प्रमाद से उत्पन्न हुए दोषों को गुरु से निवेदन करते हैं और प्रतिक्रमण करते हुए शुद्ध आत्मा में निवास करते हैं ऐसे आचार्यपरमेष्ठी को मैं नमस्कार करता हूं। यह प्रतिक्रमण नामका चौथा आवश्यक है और आचार्य का छब्बीसवां गुण है ॥ ११० ॥

अतीतेऽनागते काले कृतदोषं त्यजन् ध्रुवम् ।
प्रत्याख्यानं सदा कुर्वन् लीनः स्वात्मनि नौमि तम्

अर्थः—जो आचार्य अतीत वा अनागत काल के किये हुए समस्त दोषोंका त्याग कर देते हैं और सदा-काल प्रत्याख्यान वा त्याग करते हुए अपने शुद्ध आत्मा में लीन रहते हैं ऐसे आचार्य को मैं नमस्कार करता हूं। यह प्रत्याख्यान नाम का पांचवां आवश्यक है और आचार्यपरमेष्ठीका सत्ताईसवां गुण है ॥ १११ ॥

देहाद्भिन्नोऽस्मि चैतन्य,
रूपोऽस्मीति निजं स्मरन् ।
व्युत्सर्गं धारयन्नित्यं,
तृप्तः स्वात्मनि नौमि तम् ॥ ११२ ॥

अर्थः—मैं इस शरीर से भिन्न हूं और चैतन्यस्वरूप हूं, इसप्रकार अपने आत्मा का स्वरूप चिंतवन करते हुए जो आचार्य सदा व्युत्सर्ग धारण करते हैं और अपने आत्मा में सदा तृप्त रहते हैं ऐसे आचार्य को मैं नमस्कार करता हूं। यह व्युत्सर्ग नामका छठा आवश्यक है और आचार्यपरमेष्ठीका अट्ठाईसवां गुण है ॥ ११२ ॥

षड्विधानां हि चैतेषां वर्णनं क्लेशनाशकम् ।
आवश्यकगुणानां हि कामदं मोक्षदं कृतम् ॥

अर्थः—इसप्रकार आचार्यपरमेष्ठी के जो छह आवश्यक गुण हैं उन का वर्णन सब क्लेशों को नाश करनेवाला है, सब इच्छाओं को पूर्ण करनेवाला है और मोक्षकी प्राप्ति करानेवाला है वही वर्णन मैंने किया है ॥११३॥

पंचाचार वर्णन

शान्तिसौख्यकरा नित्यं पंचाचाराः सुखप्रदाः ।
वर्ण्यन्ते कामदा वंद्या भव्यतापविनाशकाः ॥

अर्थः—दर्शनाचार आदि पंचाचार शान्ति और सुख को देनेवाले हैं, सदा सुख देनेवाले हैं, वंदनीय हैं और भव्यजीवों के समस्त संताप को दूर करनेवाले हैं। ऐसे इन पंचाचारों का आगे वर्णन करते हैं ॥११४॥

पंचविंशतिदोषेभ्यो,
रहितं दर्शनं दधन् ।
तत्त्वश्रद्धां निजे कुर्वन्,
लीनः स्वात्मनि नौमि तम् ॥ ११५ ॥

अर्थः—जो आचार्य पच्चीस दोषों से रहित सम्यग्दर्शन को धारण करते हैं तथा जो अपने आत्मा में जीवादिक समस्त तत्त्वों की श्रद्धा धारण करते हैं और अपने शुद्ध आत्मा में सदा लीन रहते हैं ऐसे आचार्यपरमेष्ठी को मैं नमस्कार करता हूं। यह दर्शनाचार नामका पहला आचार है तथा आचार्यपरमेष्ठी का उन्तीसवां गुण है ॥ ११५ ॥

येनात्मा बुध्यते नित्यं,
मोहाच्चेतो निवर्त्यते।
तज्ज्ञानं हृदि संस्थाप्य,
निजे तृप्तोऽस्ति नौमि तम् ॥ ११६ ॥

अर्थः—जिस ज्ञान के द्वारा सदा आत्मा का स्वरूप जाना जाता है और जिस ज्ञान के द्वारा अपना हृदय मोह से हट जाता है उस ज्ञान को वा सम्यग्ज्ञान को अपने हृदय में स्थापन कर जो आचार्य अपने आत्मा में सदा लीन रहते हैं उन को मैं नमस्कार करता हूं। यह ज्ञानाचार नामका दूसरा आचार है और आचार्यपरमेष्ठी का तीसवां गुण है॥ ११६॥

पंचधाचारमास्कंदन्,
परानाचारयन् ध्रुवम्।
नित्यं तिष्ठति स्वे स्थाने,
भक्त्या यो नौमि तं मुदा॥ १७॥

अर्थः—जो आचार्य पांचों प्रकार के आचारों को वा पूर्ण चारित्रको स्वयं पालन करते हैं तथा अन्य मुनियों से पालन कराते हैं और जो अपने आत्मा में सदा लीन रहते हैं ऐसे आचार्य को मैं भक्तिपूर्वक नमस्कार करता हूं। यह चरित्राचार नाम का तीसरा आचार है और आचार्यपरमेष्ठीका इकतीसवां गुण है॥ ११७॥

यो द्वादशतपः कुर्वन् मोक्षदं कारयन् परान्।
स्वरसे स्थापयन् तिष्ठेन्निजेह्यात्मनि नौमि तम्॥

अर्थः—जो आचार्य मोक्ष देनेवाले बारह प्रकार के तपश्चरण को स्वयं पालन करते हैं और अन्य मुनियों से पालन कराते हैं तथा अन्य भव्यजीवों को अपने आत्मजन्य रस में स्थापन करते हैं और स्वयं अपने शुद्ध आत्मा में लीन रहते हैं ऐसे आचार्यपरमेष्ठी को मैं नमस्कार करता हूं। यह तप नाम का चौथा आचार है और आचार्यपरमेष्ठीका बत्तीसवां गुण है॥ ११८॥

स्वात्मानं मोचयेदन्यात्स्वपदे स्थापयेद्ध्रुवम्।
स्वराज्याय स्ववीर्येण यतते नौमि तं मुदा ॥

अर्थः—जो आचार्य अपने वीर्याचार के द्वारा वा आत्मबल के द्वारा अपने आत्मा को अन्य समस्त पदार्थों से अलग कर लेते हैं और उस अपने आत्मा को अपने आत्मजन्य स्वराज्यकी प्राप्ति के लिये अपनेही शुद्ध आत्मा में लीन कर लेते हैं वा शुद्ध आत्माकी प्राप्ति के लिये सदा यत्न करते रहते हैं उन आचार्य को मैं प्रसन्न होकर नमस्कार करता हूं। यह वीर्याचार नाम का पांचवां आचार है और आचार्यपरमेष्ठीका तेतीसवां गुण है॥ ११९॥

स्वर्मोक्षदायकाः पूता भवदुःखनिवारकाः।
पंचधापि मयाचारा वर्णिता हितकारकाः॥१२०॥

अर्थः—ये पांचों आचार स्वर्ग मोक्ष को देनेवाले हैं, पवित्र हैं, संसार के दुःखों को नाश करनेवाले हैं, और सब का हित करनेवाले हैं ऐसे इन पांचों आचारों का स्वरूप मैंने वर्णन किया ॥ १२० ॥

तीन गुप्तियों का वर्णन

वर्ण्यन्ते गुप्तयः पूता भववन्हिविनाशिकाः ।
स्वराज्यदायिका हृद्या निजभावविबोधिकाः ॥

अर्थः—अब आगे तीन गुप्तियों का वर्णन करते हैं। ये तीनों गुप्तियां संसाररूपी अग्नि को नाश करनेवाली हैं आत्माकी शुद्धतारूप स्वराज्यको देनेवाली हैं, हृदय को मनोहर लगनेवाली हैं, पवित्र हैं, और अपने शुद्ध आत्मा के स्वरूप को समझानेवाली हैं ॥ १२१ ॥

मोचयित्वाऽशुभाच्चित्तं शुभे संस्थाप्य कामदे ।
शुभादपि निजे लीनं मनोगुप्तिधरं स्तुवे ॥१२२॥

जो आचार्य अपने हृदय को अशुभध्यान से हटाकर इच्छाओं को पूर्ण करनेवाले शुभध्यान में लगाते हैं और फिर शुभध्यान से भी हटाकर अपने आत्मा में लीन होते हैं ऐसे मनोगुप्ति को धारण करनेवाले आचार्यपरमेष्ठी की मैं स्तुति करता हूं। यह मनोगुप्ति नामकी पहली गुप्ति है और आचार्यपरमेष्ठी का चौतीसवां गुण है॥१२२॥

शास्त्रबाह्यं वचस्त्यक्त्वा मौनं संदधते यतिः ।
वचोगुप्तिधरं नौमि स्वात्मध्यानपरायणम् ॥१२३॥

अर्थः—जो आचार्य शास्त्र के बाहर के समस्त वचनों का त्याग कर सदा मौन धारण करते हैं और अपने आत्मध्यान में सदा लीन रहते हैं ऐसे वचनगुप्ति को धारण करनेवाले आचार्य को मैं नमस्कार करता हूं। यह वचनगुप्ति दूसरी गुप्ति है और आचार्यपरमेष्ठी का पेंतीसवां गुण है ॥ १२३ ॥

मोचयित्वा वपुः पापात् कायगुप्तिं दधन् मुनिः ।
स्वात्मकार्यरतो यो हि तं नमामि स्वशुद्धये ॥

जो आचार्य अपने शरीर को समस्त पापकार्यों से अलग कर कायगुप्ति को धारण करते हैं और जो अपने आत्मा को शुद्ध करने रूप कार्य में सदा लीन रहते हैं ऐसे आचार्यपरमेष्ठी को मैं अपने आत्माकी शुद्धि के लिये नमस्कार करता हूं। यह कायगुप्ति तीसरी गुप्ति है और आचार्यपरमेष्ठी का छत्तीसवां गुण है ॥ १२४ ॥

गुप्तयो वर्णिताः पूताः जन्ममृत्युविनाशिकाः ।
षट्खण्डराज्यदायिन्यो मोक्षसौख्यविधायिकाः ॥

अर्थः—इसप्रकार मैंने तीनों गुप्तियों का वर्णन किया। ये तीनों गुप्तियां पवित्र हैं जन्ममरण को नाश करनेवाली हैं छहों खण्ड के राज्य को देनेवाली हैं और मोक्षसुख को प्रदान करनेवाली हैं ॥ १२५ ॥

एवं हि वर्णिता ह्येते आचार्यपरमेष्ठिनः।
षट्त्रिंशाद्धि गुणाः पूताः संसारक्लेशनाशकाः ॥

अर्थः—इसप्रकार मैंने आचार्यपरमेष्ठी के पवित्र और संसार के समस्त क्लेशों को नाश करनेवाले छतीस गुणों का वर्णन किया ॥ १२६ ॥

उपाध्यायपरमेष्ठीके गुण

उपाध्यायस्य वर्ण्यन्ते पूताः स्वर्मोक्षदा गुणाः।
पंचविंशतिसंख्याका वांछितार्थप्रदायिनः ॥१२७॥

अर्थः—अब आगे उपाध्यायपरमेष्ठी के पच्चीस गुण कहते हैं ये पच्चीसों गुण पवित्र हैं स्वर्गमोक्ष के देनेवाले हैं और इच्छानुसार फल देनेवाले हैं ॥ १२७ ॥

आचारांगं पठेन्नित्यं मुनिश्रावकगोचरम्।
पाठयंश्च परान् भव्यान् नौमि तं स्वरसे रतम् ॥

अर्थः—जो उपाध्याय मुनि और श्रावक की समस्त क्रियाओं को कहनेवाले आचारांग नाम के पहले अंग को

नित्य ही पढते हैं और अन्य भव्यजीवों को पढाते हैं तथा जो सदा अपने आत्मरस में लीन रहते हैं ऐसे उपाध्यायपरमेष्ठी को मैं नमस्कार करता हूं। यह आचारांग नाम का पहला अंग है और इस में पारंगत होना उपाध्यायपरमेष्ठी का पहला गुण है ॥ १२८ ॥

पठन् सूत्रकृतांगं यो दीक्षा छेदादिबोधकम् ।
अन्यांश्च पाठयन् दक्षः स्वकार्ये नौमि तं सदा ॥

अर्थः—जो उपाध्यायपरमेष्ठी दीक्षाछेद आदि को प्रगट करनेवाले सूत्रकृतांग नाम के दूसरे अंग को स्वयं पढते हैं, अन्य भव्य जीवों को पढाते हैं और अपने आत्म कार्य में सदा चतुर रहते हैं ऐसे उपाध्यायपरमेष्ठी को मैं नमस्कार करता हूं। यह सूत्रकृतांग नाम का दूसरा अंग है और उस में पारंगत होना उपाध्यायपरमेष्ठी का दूसरा गुण है ॥ १२९ ॥

स्थानांगं पाठयन्भव्यान् वस्तुभावादिबोधकम् ।
पठंश्च स्वगृहं गन्तुं यतते स्तौमि तं मुदा ॥

अर्थः—जो उपाध्याय वस्तुस्वभाव वा पदार्थों के स्वभाव को प्रगट करनेवाले स्थानांग नाम के अंग को स्वयं पढते हैं तथा अन्य भव्यजीवों को पढाते हैं तथा जो

मोक्षरूप अपने घर जाने के लिये सदा प्रयत्न करते रहते हैं ऐसे उपाध्यायपरमेष्ठी को मैं बड़ी प्रसन्नता के साथ नमस्कार करता हूं। यह स्थानांग नामका तीसरा अंग है और इस में पारंगत होना उपाध्यायपरमेष्ठी का तीसरा गुण है ॥ १२० ॥

पाठयन् समवायांगं पठन् जीवादिबोधकम् ।
परान् स्थाने निजे स्थातुं यतते यो हि नौमि तम्

अर्थः—जो उपाध्याय जीव अजीव आदि पदार्थों की उत्पत्तिस्थान आदि को प्रगट करनेवाले समवायांग नाम के अंग को स्वयं पढते हैं तथा अन्यजीवों को पढाते हैं और जो अपने मोक्षरूप स्थान में रहने के लिये सदा प्रयत्न करते रहते हैं ऐसे उपाध्यायपरमेष्ठी को मैं नमस्कार करता हूं। यह समवायांग नाम का चौथा अंग है और उस में पारंगत होना उपाध्यायपरमेष्ठी का चौथा गुण है ॥ १२१ ॥

व्याख्याप्रज्ञप्तिनामनं यः पठेत् पाठयेत् परान् ।
तं स्तवीमि पदार्थस्य भेदाभेदादिसूचकम् ।

अर्थः—जो उपाध्याय समस्त पदार्थों के भेद प्रभेदों को सूचित करनेवाले व्याख्याप्रज्ञप्ति नाम के अंग को

स्वयं पढते हैं और अन्यमुनियों को पढाते हैं ऐसे उपाध्यायपरमेष्ठी की मैं स्तुति करता हूं। यह व्याख्याप्रज्ञप्ति नाम का पांचवां अंग है और उस में पारंगत होना उपाध्यायपरमेष्ठी का पांचवां गुण है ॥ १३२ ॥

पठन् ज्ञातृकथांगं यो जीवाजीवादिबोधकम् ।
पाठयंश्च परान्नित्यं निजे तिष्ठति नौमि तम् ॥

अर्थः–जो उपाध्याय जीव, अजीव आदि पदार्थों को प्रतिबोधित करानेवाले ज्ञातृकथांग नाम के अंग को स्वयं पढते हैं और अन्यमुनियों को पढाते हैं तथा जो अपने आत्मा में सदा लीन रहते हैं ऐसे उपाध्यायपरमेष्ठी को मैं नमस्कार करता हूं। यह ज्ञातृकथांग नाम का छटा अंग है और उस में पारंगत होना उपाध्यायपरमेष्ठी का छटा गुण है ॥ १३३ ॥

पठन्नुपासकाध्यायं श्रावकाचारवाचकम् ।
योऽन्यांश्च पाठयन् दक्षः स्वधर्मे नौमि तं, सदा॥

अर्थः–जो उपाध्याय श्रावकाचार को वर्णन करनेवाले उपासकाध्ययन नाम के अंग को स्वयं पढते हैं तथा अन्य मुनियों को पढाते हैं और जो अपने आत्मधर्म को धारण करने में चतुर हैं ऐसे उपाध्यायपरमेष्ठी को मैं सदा

नमस्कार करता हूं । यह उपासकाध्ययन नाम का सातवां अंग है और उस को जानना उपाध्याय का सातवां गुण है ॥ १२४ ॥

अन्तःकृद्दशनामांगं कैवल्याचारबोधकम् ।
पठंश्चपाठयन्योऽन्यान् मग्नः स्वात्मनि नौमि तम्॥

अर्थः—एक एक तीर्थंकर के समय में दश दश अन्तःकृत्केवली होते हैं जो उपसर्ग सहन कर उसी समय केवलज्ञान और उसीसमय निर्वाण प्राप्त करते हैं उन का सविस्तर वर्णन अन्तःकृत् दशांग नाम के आठवें अंग में है । उस अंग को जो उपाध्याय स्वयं पढते हैं और अन्य मुनियों को पढाते हैं तथा जो अपने आत्मा में सदा लीन रहते हैं ऐसे उपाध्यायपरमेष्ठी को मैं नमस्कार करता हूं । यह अन्तःकृद्दशांग नामका आठवां अंग है उस में पारंगत होना उपाध्यायपरमेष्ठी का आठवां गुण है ॥ १२५ ॥

घोरोपसर्गजेतॄणां मुनीनां वृत्तबोधकम् ।
अनुत्तरोपपादांगं पठ्यते येन पाठ्यते ॥१२६॥

अर्थः—जो मुनि घोर उपसर्ग जीतकर अनुत्तर विमानों में उत्पन्न होते हैं उन का वर्णन अनुत्तरोपपाद

नाम के नौवें अंग में है। जो उपाध्याय उस नौवें अंग को स्वयं पढते हैं तथा अन्यमुनियों को पढाते हैं उन को मैं नमस्कार करता हूं। यह अनुत्तरोपपादांग नाम का नौवां अंग है और उस को जानना उपाध्यायपरमेष्ठी का नौवां गुण है॥ १३६॥

प्रश्नानां सुखदुःखादेः सूचकं पाठयन् पठन्।
प्रश्नव्याकरणांगं यस्तृप्तः स्वात्मनि नौमि तम्॥

अर्थः—जो उपाध्याय सुख, दुःख, जीवन, मरण, लाभ, अलाभ आदि प्रश्नोत्तरों को सूचित करनेवाले प्रश्न व्याकरण नाम के अंग को स्वयं पढते हैं और अन्य मुनियों को पढाते हैं तथा जो अपने शुद्ध आत्मा में सदा तृप्त रहते हैं ऐसे उपाध्यायपरमेष्ठी को मैं नमस्कार करता हूं। यह प्रश्नव्याकरणांग नामका दशवां अंग है और उस का पठन पाठन करना उपाध्यायपरमेष्ठी का दशवां गुण है॥ १३७॥

पठन् विपाकसूत्रांगं द्रव्यभावादिकर्मणाम्।
द्योतकं पाठयन् नित्यं निजे तृप्तोऽस्ति नौमि तम्

अर्थः—जो उपाध्याय द्रव्यकर्म, भावकर्म वा उन का उदय, उदीरणा आदि को प्रकाशित करनेवाले विपाकसूत्र नाम के अंग को स्वयं पढते हैं और अन्यमुनियों को

पढाते हैं तथा जो अपने आत्मा में सदा तृप्त रहते हैं ऐसे उपाध्यायपरमेष्ठी को मैं नमस्कार करता हूं। यह विपाक सूत्र नाम का ग्यारहवां अंग है और उस को पठन पाठन करना उपाध्यायपरमेष्ठी का ग्यारहवां गुण है ॥ १३८ ॥

एवमेकादशांगं यः स्वस्वभावादिबोधकम् ।
व्याध्यादिनाशकं धत्ते सुखशान्तिप्रदायकम् ॥

अर्थः—जो ग्यारह अंग अपने आत्मा के स्वभाव को प्रतिबोधित करानेवाले हैं, आधिव्याधियों को नाश करने वाले हैं और सुख शान्तिको देनेवाले हैं। श्रीउपाध्याय-परमेष्ठी इन सब अंगों को धारण करते हैं स्वयं पढते हैं और अन्यजीवों को पढाते हैं ॥ १३९ ॥

वर्ण्यन्तेऽथ सुभव्यानां स्वधर्मादिप्रबोधकाः ।
चतुर्दशसुपूर्वा हि याथात्म्यसुखदायकाः ॥१४०॥

अर्थः—अब आगे श्रेष्ठ, भव्यजीवों को आत्मधर्म का स्वरूप बतलानेवाले और यथार्थसुख को देनेवाले ऐसे चौदह पूर्वों का स्वरूप कहते हैं ॥ १४० ॥

पठन्नुत्पादपूर्वं यो,
ध्रौव्योत्पत्त्यादिसूचकम् ।

पाठयन् हि परान्नित्यं,
तुष्टः स्वात्मनि नौमि तम् ॥ १४१ ॥

अर्थः—जो उपाध्यायपरमेष्ठी जीवादिक पदार्थों के उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, आदि समस्तधर्मों को प्रगट करनेवाले उत्पादपूर्व नाम के पहले पूर्व को स्वयं पढते हैं और अन्यमुनियों को सदा पढाते रहते हैं तथा जो अपने आत्मा में सदा संतुष्ट रहते हैं ऐसे उपाध्यायपरमेष्ठी को मैं नमस्कार करता हूं। यह उत्पादपूर्व नाम का पहला पूर्व है और उसका पठन पाठन करना उपाध्यायपरमेष्ठी का बारहवां गुण है॥ १४१ ॥

सदा योऽग्रायणीपूर्वं प्रमाणनयवाचकम् ।
पठंश्च पाठयन् वेत्ति स्वात्मानं नौमि तं मुदा ॥

अर्थः—जो उपाध्याय नय और प्रमाणों का स्वरूप बतलानेवाले अग्रायणीपूर्वको स्वयं पढते हैं और अन्य मुनियों को पढाते हैं तथा जो अपने आत्माका स्वरूप अच्छी तरह जानते हैं ऐसे उपाध्यायपरमेष्ठी को मैं बडी प्रसन्नता के साथ नमस्कार करता हूं। यह अग्रायणीपूर्व नामका दूसरा पूर्व है और उसका पठन पाठन करना उपाध्यायपरमेष्ठी का तेरहवां गुण है ॥ १४२ ॥

वीर्यानुवादपूर्वं यो तीर्थकृद्वीर्यसूचकम् ।
पठंश्च पाठयंश्चान्यान् नौमि तं स्वरसे रतम् ॥

अर्थः—जो उपाध्याय, तीर्थंकर के बल और शक्ति को सूचित करनेवाले वीर्यानुवादपूर्व को स्वयं पढते हैं तथा अन्यमुनियों को पढाते हैं और अपने आत्मरस में सदा लीन रहते हैं ऐसे उपाध्यायपरमेष्ठी को मैं नमस्कार करता हूं। यह वीर्यानुवाद नाम का तीसरा पूर्व है और उस को पठन पाठन करना उपाध्यायपरमेष्ठी का चौदहवां गुण है ॥ १४३ ॥

योऽस्तिनास्तिप्रवादं हि जीवाजीवादिगोचरम् ।
पठंश्च पाठयंश्चान्यान् दक्षः स्वात्मनि नौमि तम्॥

अर्थः—जो उपाध्याय जीव, अजीव आदि समस्त पदार्थों के अस्तित्व, नास्तित्व आदि धर्मों को सूचित करनेवाले अस्तिनास्तिप्रवाद नाम के पूर्व को स्वयं पढते हैं तथा अन्यमुनियों को पढाते हैं और जो अपने आत्मा के स्वरूप जानने में चतुर हैं ऐसे उपाध्यायपरमेष्ठी को मैं नमस्कार करता हूं। यह अस्तिनास्तिप्रवाद नामका चौथा पूर्व है और उसको पठन पाठन करना उपाध्यायका पंद्रहवां गुण है ॥ १४४ ॥

पठन् ज्ञानप्रवादं हि ज्ञानाज्ञानादिबोधकम् ।
परान् हि पाठयन्नित्यं निजे तृप्तोऽस्ति नौमि तम् ॥

जो उपाध्याय ज्ञान वा अज्ञान के स्वरूप को बतलानेवाले ज्ञानप्रवाद नाम के पूर्वको स्वयं पढते हैं तथा अन्यमुनियों को सदा पढाते रहते हैं और जो अपने आत्मामें सदा तृप्त रहते हैं ऐसे उपाध्यायपरमेष्ठी को मैं नमस्कार करता हूं। यह ज्ञानप्रवाद नामका पांचवां पूर्व है उसको पठन पाठन करना उपाध्यायपरमेष्ठी का सोलहवां गुण है ॥ १४५ ॥

सत्यप्रवादं यो योगी दशधोक्त्यादिबोधकम् ।
पठंश्च पाठयन् तुष्टः स्वरसे नौमि तं सदा ॥

अर्थः—जो उपाध्याय उक्ति आदि दशप्रकार के सत्यवचनों को सूचित करनेवाले सत्यप्रवाद को पढते हैं तथा अन्यमुनियोंको पढाते हैं और जो अपने आत्मरस में सदा संतुष्ट रहते हैं ऐसे उपाध्यायपरमेष्ठी को मैं सदा नमस्कार करता हूं। यह सत्यप्रवाद नाम का छठा पूर्व है और उसको पठन पाठन करना उपाध्यायपरमेष्ठी का सत्रहवां गुण है ॥ १४६ ॥

अध्यात्मप्रवादं हि मूर्त्यमूर्त्यादिबोधकम् ।
यः पठन् पाठयन् स्थातुं स्तौमि तं यतते निजे ॥

अर्थः—जो उपाध्याय मूर्ति, अमूर्ति आदि धर्मों के स्वरूप को प्रतिबोधित करानेवाले आत्मप्रवादको स्वयं पढते हैं तथा अन्यमुनियों को पढाते हैं और जो अपने आत्मा में स्थिर रहने के लिये सदा प्रयत्न करते हैं ऐसे उपाध्यायपरमेष्ठी को मैं नमस्कार करता हूं। वा उनकी स्तुति करता हूं। यह आत्मप्रवाद नाम का सातवां पूर्व है और उसका पठन पाठन करना उपाध्यायपरमेष्ठी का अठारहवां गुण है ॥ १४७ ॥

कर्मबंधोदयादीनां द्योतकं पाठयन् पठन् ।
कर्मप्रवादं सकलं दक्षस्स्वात्मनि नौमि तम् ॥

अर्थः—जो उपाध्याय कर्मों का बंध वा कर्मों का उदय आदि को बतलानेवाले समस्त कर्मप्रवाद को स्वयं पढते हैं तथा अन्यमुनियों को पढाते हैं और जो अपने आत्मा के स्वरूप को जानने में चतुर हैं ऐसे उपाध्याय परमेष्ठी को मैं नमस्कार करता हूं। यह कर्मप्रवाद नाम का आठवां पूर्व है और उसका पठन पाठन करना उपाध्यायपरमेष्ठी का उनईसवां गुण है ॥ १४८ ॥

प्रत्याख्यानप्रवादं यो व्रतसंख्यानबोधकम् ।
पठंश्च पाठयल्लीनः स्वपदे नौमि तं सदा ॥

अर्थः—जो उपाध्याय व्रतोंकी संख्या वा विधि आदि को प्रगट करनेवाले प्रत्याख्यानप्रवादको स्वयं पढते हैं तथा अन्यमुनियों को पढाते हैं और जो अपने शुद्ध आत्मा में सदा लीन रहते हैं ऐसे उपाध्यायपरमेष्ठी की मैं सदा स्तुति करता हूं यह प्रत्याख्यानप्रवाद नामका नौवां पूर्व है और उसका पठन पाठन करना उपाध्यायपरमेष्ठी का वीसवां गुण है ॥ १४९ ॥

पठन् लघुमहाविद्याबोधकं पाठयन् परान् ।
नित्यं विद्यानुवादं यो स्वात्मानं वेत्ति नौमि तम्॥

अर्थः—जो उपाध्याय लघुविद्या और महाविद्याओंको बतलानेवाले विद्यानुवाद नामके पूर्व को स्वयं पढते हैं तथा अन्यमुनियोंको पढाते हैं और जो आत्माके स्वरूपको अच्छी तरह जानते हैं ऐसे उपाध्यायपरमेष्ठीको मैं नमस्कार करता हूं। यह विद्यानुवाद नामका दशवां पूर्व है और उसका पठन पाठन करना उपाध्याय का इकईसवां गुण है॥१५०॥

योऽन्यान् कल्याणवादं वै अर्हद्गर्भादिबोधकम् ॥
पठन् वा पाठयन् भावे शुद्धे लीनोऽस्ति नौमि तम्

अर्थः—जो उपाध्याय भगवान् अरहंतदेव के गर्भ जन्म, तप, केवल, और निर्वाण इन पांचों कल्याणो का बोध करानेवाले कल्याणवादको स्वयं पढते हैं तथा अन्य

मुनियों को पढाते हैं और जो अपने शुद्धभावों में सदा लीन रहते हैं ऐसे उपाध्यायपरमेष्ठीको मैं नमस्कार करता हूं। यह कल्याणवाद नामका ग्यारहवां पूर्व है और उसका पठन पाठन करना उपाध्यायका बाईसवां गुण है ॥१५१॥

प्राणावायं पठन् योऽन्यान् मंत्रवादादिगोचरम्।
पाठयन् लभते नित्यं स्वस्वादं नौमि तं सदा ॥

अर्थः—जो उपाध्याय मंत्रवाद आदि का बोध करानेवाले प्राणावाय नाम के पूर्व को स्वयं पढते हैं, अन्य मुनियोंको पढाते हैं और जो अपने आत्माके स्वाद को सदा प्राप्त करते रहते हैं ऐसे उपाध्यायपरमेष्ठीको मैं स्तुति करता हूं। यह प्राणावाय नाम का बारहवां पूर्व है और उसका पठन पाठन करना उपाध्यायपरमेष्ठीका तेईसवां गुण है ॥ १५२ ॥

पठन् क्रियाविशालं यो कलाछन्दःप्रबोधकम्।
पाठयंश्च सदान्यान् हि निजे तुष्टोऽस्ति नौमि तम्

अर्थः—जो उपाध्याय कला, छंद, आदि विषयोंको बतलानेवाले क्रियाविशाल नाम के पूर्व को स्वयं पढते हैं अन्यमुनियों को पढाते हैं और जो अपने आत्मा में संतुष्ट रहते हैं ऐसे उपाध्यायपरमेष्ठी को मैं सदा नमस्कार करता हूं यह क्रियाविशाल नाम का तेरहवां पूर्व है

और उस का पठन पाठन करना उपाध्यायका चौवीसवां गुण है ॥ १५३ ॥

यो लोकबिन्दुसारं हि मोक्षसौख्यादिसूचकम् ।
पठन् वा पाठयन्नित्यं लीनः स्वात्मनि नौमि तम् ॥

अर्थः—जो उपाध्याय मोक्षसुख के स्वरूप को कहनेवाले लोकबिंदुसार को स्वयं पढते हैं वा अन्यमुनियों को पढाते हैं और जो अपने आत्मा में सदा लीन रहते हैं ऐसे उपाध्याय को मैं नमस्कार करता हूं। यह लोकबिंदुसार नामका चौदहवां पूर्व है और उसका पठन पाठन करना उपाध्यायपरमेष्ठी का पच्चीसवां गुण है ॥ १५४ ॥

वै चतुर्दशपूर्वाणि गदितानीति भक्तितः ।
मया स्वर्मोक्षमूलानि संसारध्वंसकानि हि ॥

अर्थः—इस प्रकार मैंने भक्तिपूर्वक चौदह पूर्वों का स्वरूप कहा। ये चौदहों पूर्व स्वर्ग मोक्षके देनेवाले हैं और जन्ममरणरूप संसार को नाश करनेवाले हैं॥१५५॥

एवं समुदिताः सर्वे पंचविंशतिसंख्यकाः ।
उपाध्यायगुरोरुक्ता हृद्या दुःखहरा गुणाः ॥

अर्थः—इस प्रकार ग्यारह अंग और चौदह पूर्व को मिलाकर मैंने उपाध्यायपरमेष्ठी के पच्चीस गुण बतलाये

हैं। ये सब गुण मनोहर हैं और दुःखों को नाश करनेवाले हैं ॥ १५६ ॥

साधुपरमेष्ठी के गुण

स्वर्मोक्षदा गुणा नूनमष्टाविंशतिसंख्यकाः ।
साधोर्दुःखहरा हृद्या वर्ण्यन्ते हि सुखप्रदाः ॥

अर्थः—अब साधुओं के अट्ठाईस गुण बतलाते हैं। ये सब गुण स्वर्ग मोक्षको देनेवाले हैं, दुःखोंको नाश करनेवाले हैं, अत्यंत मनोहर हैं और सब जीवों को सुख देनेवाले हैं ॥ १५७ ॥

त्रसस्थावरजीवान् यो जीवस्थानादिषु स्थितान् ।
ज्ञात्वा निजात्मवद्रक्षन् मग्नः स्वात्मनि नौमि तम् ॥

अर्थः—जो साधु चौदह जीवस्थानों में रहनेवाले समस्त त्रस वा स्थावर जीवों को अपने आत्माके समान जानकर उनकी रक्षा करते हैं और जो अपने आत्मामें सदा लीन रहते हैं ऐसे साधुपरमेष्ठी को मैं नमस्कार करता हूं। यह अहिंसामहाव्रत नाम का पहला महाव्रत है और साधुपरमेष्ठी का पहला गुण है ॥ १५८ ॥

वचोऽप्रियानृतं त्यक्त्वा क्लेशवैरादिवर्द्धकम् ।
हितं मितं प्रियं सत्यं ब्रुवन् स्वं वेत्ति नौमि तम् ॥

अर्थः—जो साधु क्लेश, वैर आदि को बढानेवाले अ-प्रिय और असत्यवचनोंका सर्वथा त्याग कर सब का हित करने वाले परिमित, प्रिय और सत्यवचन ही सदा कहते हैं और जो अपने आत्माके स्वरूप को अच्छी तरह जानते हैं ऐसे साधुपरमेष्ठी को मैं नमस्कार करता हूं। यह सत्यमहाव्रत नाम का दूसरा महाव्रत है और साधु परमेष्ठी का दूसरा गुण है ॥ १५९ ॥

विस्मृतं पतितं द्रव्यं परग्रामवनादिषु ।
त्यक्त्वाऽदत्तं स्वबाह्यं यस्तृप्तः स्वात्मनि नौमि तम्

जो साधु किसी नगर, ग्राम, वा वन आदि में किसी की भूली हुई वा पडी हुई द्रव्य का सर्वथात्याग कर देते हैं और अपने आत्मासे बाह्य जितने पदार्थ हैं उन को विना दिये हुए कभी ग्रहण नहीं करते अर्थात् जो चोरी का सर्वथा त्याग कर अपने शुद्ध आत्मा में ही सदा तृप्त रहते हैं ऐसे साधुपरमेष्ठी को मैं नमस्कार करता हूं। यह अचौर्यमहाव्रत तीसरा महाव्रत है और साधुपरमेष्ठी का तीसरा गुण है ॥ १६० ॥

स्त्रीमात्रं मोक्षहेतोर्यस्त्यक्त्वातत्त्वं निजं स्मरन् ।
स्वात्मन्येव सदा तुष्टो नौमि तं स्वात्मसाधकम् ॥

अर्थः—जो साधु मोक्ष प्राप्त करने के लिये स्त्री मात्रका त्याग कर देते हैं, अपने आत्मतत्त्वका सदा स्मरण करते रहते हैं अपने आत्माकी शुद्धताको ही सदा सिद्ध करते रहते हैं और जो अपने आत्मा में ही सदा संतुष्ट रहते हैं ऐसे साधुपरमेष्ठी को मैं सदा नमस्कार करता हूं। यह ब्रह्मचर्य नामका चौथा गुण है। १६१।

यस्त्यक्त्वान्तर्बहिःसंगं परवस्तुविनिर्ममः।
तुष्टः स्वात्मनि वन्दे तं निजात्मरसिकं मुनिम्॥

जो साधु पर पदार्थों के ममत्व का सर्वथात्याग कर अंतरंग और बहिरंग सब प्रकारके परिग्रहों का सर्वथा त्याग कर देते हैं अपने आत्मा में सदा संतुष्ट रहते हैं ऐसे साधुपरमेष्ठी को नमस्कार करता हूं। यह परिग्रह त्याग नामका पांचवां महाव्रत है और साधुपरमेष्ठी का पांचवां गुण है॥१६२॥

महाव्रतानां पंचानां स्वरूपं कथितं मुनेः।
दुःखहर्त्तुः क्षमासिंधोर्भवक्लेशविनाशिनः॥

अर्थः—जो मुनि समस्त दुःखोंको हरण करनेवाले हैं, क्षमा के सागर हैं, और संसार के समस्तक्लेशोंको दूर करनेवाले हैं। ऐसे महाव्रतों का स्वरूप मैंने कहा॥१६३॥

वर्ण्यन्ते समितेः पंच भेदाः सुखकराः सदा।
स्वर्मोक्षदायकाः पापरोधकाः क्लेशनाशकाः ॥

अर्थः—अब आगे साधुओं की पांचों समितियों का वर्णन करते हैं ये सब समितियां सुख देनेवाली हैं, स्वर्ग-मोक्ष को देनेवाली हैं पापोंको रोकनेवाली हैं और क्लेशों का नाश करनेवाली हैं ॥१६४॥

चतुर्हस्तप्रमाणं यो मार्गं पश्यन् दिने सदा।
ईर्यासमित्या धर्मार्थं यत्नाद्गच्छति नौमि तम् ॥

अर्थः—जो साधुपरमेष्ठी ईर्यासमिति के द्वारा दिन में चार हाथ भूमि देखते हुए केवल धर्मकार्य के लिये प्रयत्न पूर्वक गमन करते हैं ऐसे साधुपरमेष्ठीको मैं नमस्कार करता हूं। यह चार हाथ भूमि को देखते हुए शुद्ध भूमि में गमन करना पहिली ईर्यासमिति है और साधु परमेष्ठी का छटा गुण है ॥ १६५ ॥

परनिंदादियुक्तां यो मायां दशविधां त्यजन्।
वाचं यो हितदां मिष्टां वदन् स्वं वेत्ति नौमि तम्॥

अर्थः—जो साधु दूसरे की निंदारूपवचन वा कठोरवचन आदि दशप्रकार की निंदनीय भाषा के बोलने का सर्वथा त्याग कर देते हैं और अपने आत्मा तथा

अन्य समस्तजीवों का हित करनेवाली तथा सबको मिष्ट लगनेवाली भाषा बोलते हैं। और अपने आत्माके स्वरूप को अच्छी तरह जानते हैं ऐसे साधुपरमेष्ठीको मैं नमस्कार करता हूं। यह भाषा नाम की दूसरी समिति है और साधुपरमेष्ठी का सातवां गुण है॥ १६६ ॥

दोषान्तरायनिर्मुक्तं श्रावकैः शुद्धमर्पितम्।
अन्नं भुंजन् सदा लीनो निजात्मनि नमामि तम्॥

अर्थः—जो साधु छयालीस दोष और बत्तीस अंतरायोंसे रहित और श्रावकोंके द्वारा दिये हुए शुद्ध आहार को ग्रहण करते हैं और अपने शुद्ध आत्मा में सदा लीन रहते हैं ऐसे साधुपरमेष्ठीको मैं नमस्कार करता हूं। यह एषणासमिति नामकी तीसरी समिति है और साधुपरमेष्ठी का आठवां गुण है॥ १६७॥

ज्ञानसंयमपात्राणि यो गृह्णाति विसर्जति।
प्रवर्त्तते सदा सम्यक् समित्या नौमि तं मुदा॥

अर्थः—जो साधुपरमेष्ठी ज्ञान और संयम के पात्रों को (शास्त्रोंको वा पींछी आदि को) समितिपूर्वक अर्थात् देख शोधकर ग्रहण करते हैं और देख शोधकर ही रखते हैं तथा समितिपूर्वक ही सदा अपनी प्रवृत्ति करते हैं ऐसे साधुपरमेष्ठीको मैं प्रसन्नचित्त से नमस्कार

करता हूं। यह आदाननिक्षेपण नामकी चौथी समिति है और साधुपरमेष्ठी का नौवां गुण है॥ ॥ १६८ ॥

स्थानेऽचित्ते विशाले हि मलमूत्राविसर्जनम् ।
कुर्वन् यो भवनाशं च स्वपदे नौमि तं स्थिरम् ॥

अर्थः—जो साधु जीवजन्तु रहित विशाल स्थान में देख शोधकर मलमूत्र करते है तथा अपने जन्ममरणरूप संसार का नाश करते हैं और अपने शुद्ध आत्मा में सदा स्थिर रहते हैं ऐसे साधुपरमेष्ठीको मैं नमस्कार करता हूं। यह उत्सर्गसमिति नाम की पांचवीं समिति है और साधुपरमेष्ठी का दशवां गुण है॥ १६९॥

स्वर्मोक्षदायकस्येति संसारक्षयकारिकाः ।
प्रोक्ताः सामितयः पंच साधोः सर्वहितंकराः ॥

अर्थः—जो साधुपरमेष्ठी स्वर्ग मोक्ष के देनेवाले हैं उन की पांचों समितियोंका वर्णन किया। ये पांचों समितियां संसार को नाश करनेवाली हैं और सबजीवोंका हित करनेवाली हैं॥ १७०॥

स्वात्मतत्त्वविदः साधोः पापहर्तुः कृपानिधेः ।
पंचेन्द्रियनिरोधो हि गुणः संवर्ण्यतेऽधुना ॥

अर्थः—जो साधु अपने आत्मतत्त्वको जाननेवाले हैं पापों को नाशकरनेवाले हैं और कृपाके सागर हैं ऐसे साधुओंके पाचों इन्द्रियोंका निरोध करने रूप गुण को अत्र वर्णन करते हैं ॥ १७१॥

शीतोष्णकर्कशादिभ्यो वस्तुभ्यो यो न रुष्यति ।
शीतोष्णादिवहिर्भूते स्थिरःस्वात्मनि नौमि तम् ॥

अर्थः—जो साधु शीत, उष्ण, कठोर आदि अरुचि उत्पन्न करनेवाले पदार्थों से कभी रुष्ट नहीं होते और शीत, उष्ण, कठोर आदि से सर्वथा भिन्न ऐसे अपने आत्मा में सदा स्थिर रहते हैं ऐसे साधुपरमेष्ठीको मैं नमस्कार करता हूं। यह स्पर्शनेन्द्रियका निरोध करना प्रथम इन्द्रियनिरोध है और साधुपरमेष्ठी का ग्यारहवां गुण है। १७२ ॥

दधिदुग्धघृतादिभ्यो विरक्तः सत्सुखप्रदे।
स्वरसे यः स्थिरे तृप्तः सदा तं स्तौमि कामदम् ॥

अर्थः—जो साधु जिह्वा इन्द्रियको सुख देनेवाले दही, दूध, घी, मिष्टान्न आदि पदार्थों से सदा विरक्त रहते हैं और स्थिरभूत अपने आत्मरस में सदा तृप्त रहते हैं तथा जो जीवोंकी समस्त इच्छाएं पूर्ण करनवाले हैं ऐसे साधु

परमेष्ठी की मैं सदा स्तुति करता हूं। यह जिह्वा इन्द्रिय का निरोध करना दूसरी इन्द्रियका निरोध है और साधु परमेष्ठी का बारहवां गुण है ॥ १७३ ॥

यः सुगन्धाच्च दुर्गंधाद्विरक्तः परवस्तुनः।
लीनः स्वात्मसुगंधे च वंदे तं कामदं मुनिम् ॥

अर्थ—जो साधु सुगंधित अथवा दुर्गंधयुक्त समस्त पदार्थों से सदा विरक्त रहते हैं और अपने शुद्ध आत्मा की सुगंधि में सदा लीन रहते हैं तथा जो जीवों की समस्त इच्छाओं को पूर्ण करनेवाले हैं ऐसे साधुपरमेष्ठी को मैं नमस्कार करता हूं। यह घ्राण इन्द्रिय का निरोध करना तीसरी इन्द्रिय का निरोध है और साधुपरमेष्ठी का तेहरवां गुण है। ॥ १७४ ॥

जीवाजीवादिवस्तूनां रूपं प्रेक्ष्य प्रियाप्रियम्।
न क्रुध्यन् स्वरसे लीनस्तिष्ठत्यात्मनि नौमि तम् ॥

अर्थ—जो साधु जीव अजीव आदि समस्त पदार्थों के प्रिय वा अप्रिय रूप को देखकर कभी क्रोध नहीं करते हैं और अपने आत्मरस में लीन होते हुए अपने आत्मा में ही सदा स्थिर रहते हैं ऐसे साधुपरमेष्ठी को मैं नमस्कार करता हूं। यह नेत्र इन्द्रिय का निरोध

करना चौथी इन्द्रिय का निरोध है और साधुपरमेष्ठी का चौदहवां गुण है। ॥ १७५ ॥

जीवादिवस्तुनः श्रुत्वा पंचमादिस्वरं प्रियम् ।
स्वभावाच्चलितो न स्याद्यः साधुर्नौमि तं मुदा ॥

अर्थ—जो साधुपरमेष्ठी जीव वा अजीव पदार्थों के पंचम आदि प्रिय सुरों को सुनकर भी अपने आत्मा के शुद्ध स्वभाव से कभी चलायमान नहीं होते हैं और अपने शुद्ध आत्मा की सदा पुष्टि करते रहते हैं ऐसे साधुपरमेष्ठी को मैं नमस्कार करता हूं। यह श्रोत्र इन्द्रिय का निरोध करना पांचवीं इन्द्रिय का निरोध है और साधुपरमेष्ठी का पन्द्रहवां गुण है ॥ १७६ ॥

साधोः स्वर्मोक्षदातुर्हि मुक्तिभर्तुः क्षमानिधेः ।
अक्षरोधगुणाः पंच प्रोक्ता मन्दधिया मया ॥

अर्थ—जो साधु स्वर्ग मोक्षके देनेवाले हैं मुक्तिरूपी स्त्रीके स्वामी हैं और जो क्षमा के सागर हैं ऐसे साधु के पांचों इन्द्रियों के निरोध करने रूप पांचों गुण मंदबुद्धि को धारण करनेवाले मैंने वर्णन किये ॥ १७७ ॥

क्लेशहर्तुर्दयामूर्तेः शान्तिदातुः क्षमानिधेः ।
षडावश्यका हि वर्ण्यन्ते गुणाः साधोः सुखंकराः ॥

अर्थ—जो साधु समस्त क्लेशों को दूर करनेवाले हैं, दयाकी मूर्ति हैं समस्त जीवों को शांति देनेवाले हैं और जो क्षमाकी निधि हैं ऐसे साधु के समस्त जीवों का हित करनेवाले छहों आवश्यकोंका वर्णन करते हैं ॥ १७८ ॥

आत्मबाह्ये पदार्थे यो नित्येऽनित्ये प्रियेऽप्रिये ।
साम्यं दृष्ट्वा स्थितोह्यासीच्चिदानन्दे हि नौमि तम्

अर्थ—जो साधु अपने आत्मासे भिन्न नित्य अनित्य प्रिय अप्रिय आदि समस्त पदार्थों में समता धारण कर चिदानंदमय अपने आत्मा में सदा स्थित रहते हैं ऐसे साधुपरमेष्ठी को मैं नमस्कार करता हूं। यह समता नाम का पहला आवश्यक है और साधुपरमेष्ठी का सोलहवां गुण है ॥ १७९ ॥

अर्हत्सिद्धादिपूज्यानां त्रिकाले भक्तिवन्दनाम् ।
कुर्वन् यो निजराज्येऽभूत् स्थिरस्तं नौमि मोक्षदम्

अर्थ—जो साधु भगवान् अरहंत देव वा सिद्धपरमेष्ठी आदि पूज्यपुरुषों की प्रातःकाल मध्याह्नकाल सायंकाल तीनों समय भक्ति और वंदना करते हुए अपने आत्मरूप राज्य में सदा स्थिर रहते हैं और अन्य भव्य जीवों को मोक्ष देने वाले हैं ऐसे साधुपरमेष्ठी को मैं

नमस्कार करता हूं। यह वंदना नाम का दूसरा आवश्यक है और साधुपरमेष्ठी का सत्रहवां गुण है ॥ १८० ॥

ऋषभादिजिनानां यो कुर्वन् गुणस्तवादिकम् ।
मनोवाक्कायशुध्या यः स्तौमि तं तृप्तमात्मनि ॥

अर्थ—जो साधु अपने मन वचन काय की शुद्धतापूर्वक भगवान ऋषभदेव आदि तीर्थंकरों के गुणों की स्तुति करते हुए अपने आत्मामें सदा तृप्त रहते हैं उन साधुओं की मैं स्तुति करता हूं।

यह स्तुति नाम का तीसरा आवश्यक है और साधु परमेष्ठी का अठारहवां गुण है ॥ १८१ ॥

द्रव्यक्षेत्रादिभावेषु कृतदोषादिवर्जनम् ।
यः प्रतिक्रमणं कुर्वन् स्वं वेत्ति स्तौमि तं मुदा ॥

अर्थ—जो साधुपरमेष्ठी द्रव्य क्षेत्र काल भाव आदि के द्वारा स्वयं किये वा कराये हुए दोषों को सर्वथा दूर करने वाले प्रतिक्रमण को करते हुए अपने आत्मा के स्वरूप को अच्छी तरह जानते हैं उन साधुओं की मैं बडी प्रसन्नता के साथ स्तुति करता हूं। यह प्रतिक्रमण नाम का चौथा आवश्यक है और साधुपरमेष्ठी का उनईसवां गुण है ॥ १८२ ॥

सावद्यद्रव्यभावानां प्रत्याख्यानं विधाय यः ।
निरवद्येषु भावेषु यतते नौमि तं स्थिरम् ॥

अर्थ—जो साधु पापसहित द्रव्य क्षेत्र काल भावों का सर्वथा प्रत्याख्यान वा त्याग कर निर्दोष वा पापरहित द्रव्य क्षेत्र काल भावों में स्थिर रहने के लिये सदा प्रयत्न करते रहते हैं और अपने आत्मा में स्थिर रहते हैं ऐसे साधुपरमेष्ठी को मैं नमस्कार करता हूं। यह प्रत्याख्यान नाम का पांचवां आवश्यक है और साधुपरमेष्ठी का बीसवां गुण है ॥ १८३ ॥

स्वात्मा चिन्मयमात्रोऽस्ति मम ज्ञात्वेति चिन्हतः ।
तन्वादौ निर्ममः सन्यो लीनः स्वात्मनि नौमि तम् ॥

अर्थ—जो साधुपरमेष्ठी अपने आत्मा के चिन्हों से अपने आत्मा को चैतन्यमात्र समझ कर अपने शरीर से ममत्व का सर्वथा त्याग कर देते हैं और अपने आत्मा में सदा लीन रहते हैं ऐसे साधुपरमेष्ठी को मैं नमस्कार करता हूं। यह व्युत्सर्ग नाम का छटा आवश्यक है और साधुपरमेष्ठी का इकईसवां गुण है ॥ १८४ ॥

संसारनाशकस्येति स्वर्गमोक्षप्रदायिनः ।
क्षमासिंधोर्मुनेः प्रोक्ता ये षडावश्यका गुणाः ॥

अर्थ—जो साधु जन्म मरणरूप संस्कार को नाश करने वाले हैं स्वर्ग मोक्ष को देने वाले हैं और क्षमा के सागर हैं ऐसे साधुओं के जो छह आवश्यक गुण हैं उन का वर्णन मैंने किया ॥ १८५ ॥

लोचाद्योऽथ वर्ण्यन्ते गुणाः सप्त महामुनेः।
क्षमासिंधोर्हि भव्यानामज्ञानांधविनाशिनः ॥

अर्थ— जो साधु क्षमा के सागर हैं और जो भव्य जीवों के अज्ञानांधकार को सर्वथा दूर करने वाले हैं ऐसे महामुनि साधुपरमेष्ठी के केशलोच आदि सातों गुणों का वर्णन करते हैं ॥ १८६ ॥

लोचं द्वित्रिचतुर्मासैः कुर्वन्नुपवसन् मुनिः।
विरक्तः सन् हि तन्वादौ लीनः स्वात्मनि नौमि तम्

अर्थ—जो साधु मुनि अपने शरीर से सदा विरक्त होकर दो महीने में तीन महीने में वा चार महीने में अपने केशों का लोच कर डालते हैं और उस दिन उपवास अवश्य करते हैं तथा जो अपने आत्मा में सदा लीन रहते हैं ऐसे साधुपरमेष्ठी को मैं नमस्कार करता हूं। यह केशलोंच साधुपरमेष्ठी का बाईसवां गुण है ॥ १८७ ॥

बाह्यवस्त्रादिभिर्मुक्तं जिनलिंगं सुनिर्मलम् ॥
स्वर्मोक्षसाधकं धृत्वा निजे यो नौमि तं स्थिरः ॥

अर्थ—यह जिनलिंग वा नग्न अवस्था बाह्य वस्त्रादिक से सर्वथा रहित है। अत्यंत निर्मल है और स्वर्ग मोक्ष को सिद्ध करनेवाली है ऐसी कठिन नग्न अवस्था को धारण कर जो साधु सदा अपने आत्मा में स्थिर रहते हैं ऐसे साधुओं को मैं नमस्कार करता हूं। यह जिन लिंग वा नग्न अवस्था धारण करना साधुपरमेष्ठी का तेईसवां गुण है ॥ १८८ ॥

ममात्मा ज्ञानवैराग्यजलेनैव हि शुध्यति।
ज्ञात्वा त्यक्त्वा जलस्नानं ज्ञाने यो नौमि तं स्थिरम्

अर्थ—यह मेरा आत्मा ज्ञान और वैराग्यरूपी जल से ही शुद्ध हो सकता है और किसी से नहीं यही समझ कर साधु जलस्नान का सर्वथा त्याग कर देते हैं और अपने आत्मज्ञान में सदा लीन रहते हैं ऐसे साधु परमेष्ठी को मैं नमस्कार करता हूं। यह स्नानत्याग नाम का साधु का चौबीसवां गुण है ॥ १८९ ॥

तृणकंटकभूम्यादौ शयनं कुरुते हि यः।
कर्म जेतुं विरक्तः सन् जाग्रंश्चात्मनि नौमि तम् ॥

अर्थ—जो साधुपरमेष्ठी कर्मों को जीतने के लिये शरीर से विरक्त हो कर तृण वा कांटे आदि से भरी हुई भूमि पर ही सदा शयन करते हैं और अपने आत्मा में सदा जाग्रत रहते हैं ऐसे साधुपरमेष्ठी को मैं नमस्कार करता हूं। यह भूमिपर शयन करना साधु परमेष्ठी का पच्चीसवां गुण है ॥ १९० ॥

दन्तादिघर्षणं त्यक्त्वा करांगुल्या हि निस्पृहः ।

स्वात्मानुभवसम्पन्नस्तृप्तो यो नौमि तं निजे ॥

अर्थ—जो साधु अपने शरीर से सर्वथा निस्पृह होकर हाथ की उंगली से भी कभी अपने दांतों को नहीं घिसते हैं। और सदा अपने आत्माके अनुभव से सुशोभित रहते हैं. तथा अपने ही आत्मा में सदा तृप्त रहते हैं, ऐसे साधु-परमेष्ठी को मैं नमस्कार करता हूं। यह दंतधावन का त्याग साधुपरमेष्ठी का छब्बीसवां गुण है ॥ १९१ ॥

शुद्धे स्थानत्रिके कुर्वन् ध्यानार्थं स्थितिभोजनम्।

स्थित्वा हस्तपुटैर्यो हि लीनः स्वात्मनि नौमि तम्

अर्थ—जो साधु अपना ध्यान धारण करने के लिये ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य इन तीनों शुद्ध वर्णों में ही खडे होकर करपात्र के द्वारा ही आहार ग्रहण करते हैं और अपने

शुद्ध आत्मा में सदा लीन रहते हैं ऐसे साधुपरमेष्ठी को मैं नमस्कार करता हूं। यह स्थितिभोजन वा खडे होकर भोजन करना साधु का सत्ताईसवां गुण है ॥ १९२ ॥

कुर्वन् यथोक्तकाले य एकभुक्तिं विरागवान् ।
सम्यग्ज्ञानादि वृध्द्यर्थं तृप्तः स्वात्मनि नौमि तम्॥

अर्थ—संसार शरीर और भोगों से अत्यंत विरक्त हुए जो साधु अपने सम्यग्ज्ञान आदि गुणोंकी वृद्धि के लिये शास्त्र में कहे हुए समयपर दिन में एकवार ही आहार ग्रहण करते हैं। और अपने शुद्ध आत्मामें सदा लीन रहते हैं, ऐसे साधुपरमेष्ठी को मैं नमस्कार करता हूं। यह दिन में एकवार भोजन करना साधु का अट्ठाईसवां गुण है ॥ १९३ ॥

साधोर्मूलगुणाः प्रोक्ता अष्टाविंशतिसंख्यकाः ।
स्वर्मोक्षहेतवो ह्येते क्रोधलोभादिनाशकाः ॥

अर्थ—इस प्रकार मैंने साधुपरमेष्ठी के अट्ठाईस मूल गुणोंका वर्णन किया। ये सब मूलगुण स्वर्ग मोक्षके कारण है और क्रोध, लोभ आदि समस्त कषायों को नाश करनेवाले हैं ॥ १९४ ॥

—=+=—

अथ प्रशस्तिः ।

प्रसिद्धे मूलसंघेऽस्मिन् शुद्धे सेनान्वये वरे ।
गच्छे पुष्करके जातो जिनसेनो महाकविः ॥१॥
देवेंद्रकीर्तिः संजातस्तस्य शिष्यान्वये शुभे ।
धर्मस्य नेता तच्छिष्यः सूरिःश्रीशांतिसागरः॥२॥

इस प्रसिद्ध मूलसंघ के सेनगण और पुष्कर गच्छमें प्रसिद्ध आचार्य जिनसेन महाकवि हुए हैं। उन आचार्य जिनसेन की शिष्यपरंपरामें मुनिराज देवेन्द्रकीर्ति हुए हैं, और उन देवेन्द्रकीर्ति के शिष्य धर्म के मुख्य नेता आचार्य शान्तिसागर हुए हैं ॥ १-२ ॥

आसीदयं महासूरिर्भोजग्रामनिवासिनः ।
भीमगौडस्य सत्यायाः सुपुत्रः सातगौडकः ॥ ३ ॥
मुनिदीक्षां समादाय प्राप्तः सूरिपदं क्रमात् ।
मम दीक्षागुरुः सोऽयं जीयादाचंद्रतारकम् ॥४॥

ये आचार्य शान्तिसागर महाराज भोज (बेलगांव) गांव के रहनेवाले पाटील भीमगौड के सुपुत्र थे, उन का नाम सातगौड था और उनकी माता का नाम

सत्यवती था। उन सातगौडने मुनिदीक्षा ग्रहण कर अनुक्रमसे आचार्यपद प्राप्त किया है। वे ही आचार्य श्री शान्तिसागर मेरे दीक्षागुरु हैं और वे मेरे दीक्षागुरु आचार्य शान्तिसागर इस पृथ्वीपर जबतक चन्द्र और नक्षत्रगण रहें तबतक जयवंत रहें ॥ ३-४ ॥

मुमुक्षुरस्य शिष्योऽहं मुनिः श्रीकुंथुसागरः ।
अन्ये च बहवः शिष्याः संजातास्तस्य योगिनः॥

अर्थ—मोक्षकी इच्छा रखनेवाला मैं मुनि श्री कुंथुसागर उन्हीं आचार्य शान्तिसागर का शिष्य हूं। उन आचार्य के मेरे सिवाय और भी बहुतसे शिष्य हैं ॥ ५ ॥

श्रीवीरसागरो विद्वान् गुणज्ञौ नेमिसागरौ ।
श्रीचन्द्रसागरो योगी दयालुः पायसागरः ॥ ६ ॥
नमिसागरयोगीशो मुमुक्षुरादिसागरः ।
स्मार्तो वक्ता तपस्वी च मुनिः सुधर्मसागरः ॥७॥

विद्वान् वीरसागर, अनेक गुणोंको जाननेवाले दोनों नेमिसागर, योगिराज चन्द्रसागर, दयानिधि पायसागर, योगिराज नमिसागर, मोक्षकी इच्छा रखनेवाले आदिसागर और स्मृति शास्त्रोंके ज्ञाता परम वक्ता तथा तपस्वी मुनिराज सुधर्मसागर आदि अनेक उनके शिष्य हैं ॥६-७॥

मध्यभारतदेशस्थचावलीग्रामवासिनः ।
तोतारामस्य मेवाया धर्मज्ञो वरनन्दनः ॥ ८ ॥
विद्वान्नन्दनलालोऽयं मुनिर्भूत्वा सुधर्मधीः ।
सुधर्मसागरो जातः सूरिकल्पः प्रपाठकः ॥ ९ ॥
सुधर्मध्यानदीपादिशास्त्राणां मूलकारकः ।
सुधर्मसागरः सोऽयं जीयाद्विद्यागुरुर्मम ॥ १० ॥

मध्यभारतके चावली गांव के रहनेवाले तोताराम के उनकी धर्मपत्नी मेवा से उत्पन्न हुआ एक धर्मात्मा सुपुत्र था नन्दनलाल उसका नाम था। वह नंदनलाल विद्वान् था और सद्बुद्धि को धारण करता था। वही नन्दनलाल मुनिदीक्षा लेकर सुधर्मसागर के नाम से प्रसिद्ध हुए हैं। वे आचार्य के समान सब को पढानेवाले हैं और मेरे विद्यागुरु हैं। ऐसे वे सुधर्मसागर मुनि सदा जीवित रहें ॥ ८-९-१० ॥

एनापुरस्थसातप्पासरस्वत्योः सुतोत्तमः ।
रामचन्द्रः सुदीक्षित्वा जातोऽहं कुंथुसागरः ॥११॥

एनापुर (बेलगांव) के रहनेवाले सातप्पा और सरस्वतीका उत्तम पुत्र रामचन्द्र मुनिदीक्षा लेकर मैं कुंथसागरमुनि हुआ हूं ॥ ११ ॥

उदगीरपुरे श्रेष्ठी गंगासानामकोऽभवत् ।
तद्भार्या रुक्मिणी ज्ञेया रामचन्द्रः सुतस्तयोः ॥
सूरेराज्ञां समादाय मयैव कुंथुसिंधुना ।
दीक्षितः सोऽपि भव्यात्मा विद्वान् सुमतिसागरः ॥

ऊदगीरनगर में एक सेठ गंगासा रहते हैं उनकी स्त्रीका नाम रुक्मिणी है। उन दोनों के रामचंद्र नामका पुत्र था। मुझ कुंथुसागर मुनि ने आचार्यशान्तिसागर की आज्ञा लेकर उस भव्य और विद्वान् रामचन्द्र को मुनि दीक्षा दी है और सुमतिसागर उनका नाम निर्देश किया है ॥ १२-१३ ॥

चतुर्विंशतितीर्थेशस्तुतिः पंचगुरुस्तुतिः ।
चरित्रं शांतिसिंधोश्च भावना रचिता मया ॥१४॥

मैंने अबतक चतुर्विंशति तीर्थंकरों की स्तुति, पंचपरमेष्ठीस्तुति, आचार्यशांतिसागरजी का चरित्र और आत्मभावना आदि ग्रंथोंकी रचना की है ॥ १४ ॥

दीक्षागुरोरेव च शांतिसिंधोः,
संसारहर्तुः शिवसौख्यदातुः ।
कृपाप्रसादाद्धि सुधर्मनाम्नो,
विद्यागुरोरेव दयार्द्रमूर्तेः ॥ १५ ॥

श्रीकुंथुनाम्ना मुनिना स्वबुध्या,
स्वजन्ममृत्योश्च विनाशहेतोः ।
तथा परेषां सुखशांतिहेतो—
र्यथार्थधर्मस्य च बोधहेतोः ॥ १६ ॥
नाम्ना हि बोधामृतसार एव,
ग्रंथस्तृतीयः रचितश्च भक्त्या ।
अज्ञानहर्ता निजबोधकर्ता,
भेत्ता ध्रुवं क्रोधचतुष्टयस्य ॥ १७ ॥

जन्ममरणरूप संसारको हरणकरनेवाले और मोक्ष सुखको देनेवाले आचार्य श्रीशांतिसागरजी महाराज मेरे दीक्षा गुरु हैं तथा दयाकी मूर्ति ऐसे मुनिराज सुधर्मसागर जी महाराज मेरे विद्यागुरु हैं। इन्हीं दोनों गुरुओंकी कृपाके प्रसाद से मुझ कुंथुसागर मुनिने अपने जन्ममरण को नाश करने के लिये, अन्यजीवोंको सुखशांति प्राप्त करने के लिए और यथार्थधर्म के ज्ञानका प्रचार करने के लिए बोधामृतसार नामका तृतीय ग्रन्थ अपनी बुद्धिके अनुसार बनाया है। यह ग्रन्थ भी अत्यंतमनोज्ञ है, अज्ञानको हरण करनेवाला है अपने आत्माज्ञान को उत्पन्न करनेवाला है और क्रोध, मान, माया, लोभ इन चारों कषायोंको

नाश करनेवाला है। ऐसे उस ग्रन्थकी रचना मैंने भक्तिपूर्वक की है॥ १६-१७॥

छंदोऽलंकारशास्त्रे वा न च काव्यकलादिकं।
नैव नीत्यादिशास्त्रं च न्यायव्याकरणादिकम्॥
विशेषं धर्मशास्त्रं वा नैव जानामि तत्त्वतः।
तथापि केवलं भक्त्या लिखितोऽयं मयाधुना॥

यद्यपि मैं छंदःशास्त्र, अलंकारशास्त्र वा काव्य शास्त्र और कलादिकों को नहीं जानता हूं, न मैं नीति शास्त्र को जानता हूं और न न्याय व्याकरणादिक जानता हूं। तथा विशेष रीति से धर्मशास्त्र को भी अच्छी तरह नहीं जानता तथापि केवल भक्तिवश होकर मैंने इस समय यह शास्त्र लिखा है॥ १८-१९॥

न कृतं ख्यातिपूजार्थं नाहंकारधिया मया।
केवलं भव्यजीवानां क्लेशदुःखप्रशान्तये॥ २०॥
शाश्वतस्य सुखस्यार्थं स्वादार्थं स्वसुखस्य वा।
स्वमोक्षदायकं हृद्यं स्तुत्यं स्वपरबोधकम्॥२१
वांछितार्थप्रदं पूतं रोगशोकार्तिनाशकम्।
परमेष्ठिनां गुणानां पंचानां वा परिवर्णनम्॥२२॥

मनोवाक्कायसंशुध्द्या भक्तिभाव वशेन हि ।
विदितं सर्वशान्त्यर्थं मंगलार्थं च सर्वदा ॥२३॥

अर्थ—इस मोक्षमार्ग प्रदीपमें पंचपरमेष्ठियों के गुणों का वर्णन मैं ने न तो अपनी प्रसिद्धि के लिए किया है न अपना बडप्पन दिखलाने के लिए किया है और न अपना अभिमान दिखलाने के लिये किया है, किंतु केवल भव्यजीवोंके क्लेश और दुःखों को शांत करने के लिए वर्णन किया है। अथवा सदा नित्य रूप से रहने वाले मोक्ष सुख की प्राप्ति के लिए वा अपने आत्मजन्य आनंदरस की प्राप्ति के लिए अथवा समस्तजीवों की शांति के लिए वा सर्वदा मंगल होते रहने के लिए अपनी भक्ति और भाव के वश हो कर तथा मनवचनकाय की शुद्धतापूर्वक यह पांचों परमेष्ठियों के गुणों का वर्णन किया है। यह वर्णन स्वर्ग मोक्ष को देनेवाला है, मनोहर है, प्रशंसनीय है, अपने आत्मा और परपदार्थों के स्वरूप का ज्ञान कराने वाला है, इच्छानुसार फल देने वाला है, पवित्र है, और रोग शोक वा आधिव्याधियों को नाश करने वाला है ॥

शीघ्रं त्यक्त्वा प्रमादं हि मनोवाक्कायशुद्धितः ।
पठन्तु पाठयन्त्वन्यान् भव्यान् ग्रंथमिमं सदा

अनुभवन्ति ये भव्या भक्त्यानुभावयन्ति ये ।
नमन्ति नामयन्तीति पठन्ति पाठयन्ति च ॥२५॥
स्मरन्ति स्मारयन्तीति शृण्वन्ति श्रावयन्ति ते ।
संसारसारसौख्यं हि भुक्त्वा नित्यं मनोहरम् ।
संसारदुःखतो दूरीभूत्वा जन्मजरान्तकात् ।
स्वर्मोक्षौ क्रमतो धीरा लभन्ते स्वात्मसाधकाः ॥

अर्थ—हे भव्य जीवों ! अब प्रमाद को शीघ्र ही छोड कर मन, वचन, काय की शुद्धतापूर्वक इस ग्रंथ को सदा पढो और अन्य भव्यजीवों को सदा पढाओ। जो भव्य जीव इस ग्रंथ का अनुभव करते हैं, इस को नमस्कार करते हैं, दूसरों से नमस्कार कराते हैं, स्वयं पढते हैं, अन्य जीवों को पढाते हैं, स्वयं स्मरण करते हैं, अन्य जीवों से स्मरण कराते हैं, स्वयं सुनते हैं और अन्य जीवों को सुनाते हैं वे अपने आत्मा को सिद्ध करने वाले धीर वीर भव्य पुरुष सदा मनोहर लगनेवाले संसार के इन्द्र चक्रवर्ती आदि के सारभूत सुखोंका अनुभव करते हुए जन्म मरण और बुढापे से भरे हुए इस संसार के दुःखों को सर्वथा नाश कर देते हैं और अनुक्रम से स्वर्ग और फिर मोक्ष को प्राप्त होते हैं ॥ २५-२६ ॥

सुद्विषष्ट्यधिके पूते चतुर्विंशतिके शते ।
वर्षे वीरप्रभोर्मासे ज्येष्ठे स्वमोक्षदायिनः ॥ २७ ॥
पक्षेऽसितत्रयोदश्यां सुन्दरे सोमवासरे ॥
हिम्मत्सिंहनरेशस्य न्यायनीतिदयायुजः ॥ २८ ॥
श्रेष्ठरत्नधनाकीर्णे हिम्मते नगरे वरे ।
ध्वजादिभूषिते स्थित्वा श्रीचन्द्रप्रभुमन्दिरे ॥२९॥
मोक्षमार्गप्रदीपोऽयं ग्रन्थः स्वमोक्षसौख्यदः ।
लिखितो भव्यबोधार्थं भवाग्नेः शान्तिहेतवे॥३०॥
स्वानन्दस्वादतुष्टेन दिगम्बरसुलिंगिना ।
शान्तिसागरशिष्येण कुन्थुसागरयोगिना ॥ ३१ ॥
कृता जयपुरे भाषा नानूलालेन शास्त्रिणा ।
इष्टा च मंगलकरी भाद्रमासे गुरौ दिने ॥ ३२ ॥
शुक्लपक्षस्य पंचम्यां चतुर्नवतिसंयुते ।
एकोनविंशतिशते शाके श्रीविक्रमस्य वै ॥ ३३ ॥
चिन्तामणेःकल्पतरोःसमानं
सुखप्रदं वांछितदं यथेष्टं ।
ग्रंथं ह्यमुं ध्वांतहरं समूला-
त्सुबोधदं मोक्षपदप्रदं वै ॥ ३४ ॥

स्मरंति गायंति पठंति भक्त्या
त एव भव्याश्च नरामरत्वं ।
लब्ध्वा लभंते सुखदं सुधर्मं
क्रमात्तथा शाश्वतकं स्वराज्यम् ॥ ३५ ॥

स्वर्ग मोक्ष को देनेवाले श्रीवीरप्रभु के शक २४६२ में ज्येष्ठ कृष्ण त्रयोदशी सोमवार के सुन्दर दिन में न्याय नीति और दया से युक्त हिम्मतसिंह राजा के रत्नैश्वर्यादि से परिपूर्ण श्रेष्ठ हिम्मतनगर में स्थित ध्वजाओं से सुशोभित ऐसे श्रीचन्द्रप्रभुमंदिर में रहकर आत्मानन्द रस में निष्ठ आचार्य शांतिसागर के शिष्य ऐसे दिगम्बर लिंगधारी कुन्थुसागर योगी (मैं) ने संसाररूपी आग के शमनार्थ एवं भव्यजीवों को ज्ञानलाभार्थ स्वर्गापवर्ग को प्रदान करने में समर्थ यह मोक्षमार्गप्रदीप नाम का ग्रंथ रचा है। इस ग्रंथ की हित और मंगलदायिनी भाषा (टीका) जयपुर में विक्रम शक १९९४ भाद्रपद शुक्ल त्रयोदशी गुरुवार के दिन पं० नानूलाल शास्त्री द्वारा लिखी गई है। चिंतामणि और कल्पतरु के समान यथेष्ट सुख को देने वाले, अज्ञानान्धकार को नष्ट कर सुज्ञान को तथा मोक्ष को देने वाले इस ग्रंथ को जो भव्य भक्ति से स्मरण करते हैं, गाते हैं, और पठन करते हैं वे नरामर

पद को प्राप्त हो कर सुखद श्रेष्ठधर्म को पाकर क्रम से अविनश्वर ऐसे स्वराज्यपद (मोक्ष) को प्राप्त हो जाते हैं ॥ २७ से ३५ ॥

अज्ञानाद्वा प्रमादाद्वा स्खलनं यदि मे भवेत् ।
ग्रंथेऽस्मिन् तद्बुधा नित्यं श्रमणाः शोधयंत्विति ॥

मेरे अज्ञान वा प्रमाद से यदि इस ग्रंथ में कुछ कमी वा भूल रह गई हो तो विद्वान् मुनियों को उसे शुद्ध कर लेना चाहिये ॥ ३६ ॥

जयतु जयतु देवः शांतिनाथो जिनेन्द्रः ।
सुरनरमुनिपूज्यो वर्द्धमानो जिनेशः ॥ ३७ ॥
शिववरसुखदात्री वीरवाणी सदैव ।
मम शुभमतिदाता शांतिसिंधुः सुधर्मः ॥ ३८ ॥

परमदेव भगवान शान्तिनाथजिनराज सदा जयवंत रहें । देव, मनुष्य और मुनियों के द्वारा पूज्य श्रीवर्धमान भगवान सदा जयवंत रहें । इसी प्रकार मोक्षसुख देने-वाली भगवान महावीरस्वामी की वाणी सदा जयवंत रहे और मुझ को शुभबुद्धि देनेवाले आचार्यशान्तिसागर तथा सुधर्मसागर सदा जयवंत रहे ॥ ३७–३८ ॥

—:० समाप्तोऽयं ग्रंथः ०:—